ायव्रत वेदमार्तण्ड प्रणीत

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

मेरी दृष्टि में

लेखक :

डा० विष्णुदत्त राकेश

आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड प्रणीत

वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त

मेरी दृष्टि में

लेखक :
डा० विष्णुदत्त राकेश
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

पन्द्रह अगस्त, १९८५

प्रकाशक

वीरेन्द्र अरोड़ा

कुलसचिव

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,

मुद्रक

साहित्यकार प्रेस

जत्तीवाड़ा मेरठ,

दो शब्द

मनु महाराज की घोषणा है कि वेद को जानने वाला व्यक्ति राज्य का संचालन, न्याय व्यवस्था का पालन, सेनाओं का संघटन तथा समृद्ध समाज का निर्माण कर विश्वकल्याण की सार्वभौम व्यवस्था का निर्धारण कर सकता है। संविधान, सामाजिक अभ्युदय और प्रतिरक्षा के आधुनिकतम सूत्र भी वेदमन्त्रों में उपलब्ध हैं पर ज्ञान, उपासना और यज्ञकर्म की परम्परित सरणियों के अतिरिक्त शताब्दियों से भारतीय वेद-भाष्यकार मन्त्रों के अधिदैवत पक्ष, समाजोपयोगी पक्ष की उपेक्षा ही करते रहे हैं। महर्षि दयानन्द ने सर्वप्रथम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सूत्रों के अनुसंधान की बात वेद-भाष्य में कही। आज जब सामाजिक विज्ञान, विज्ञान, तकनीकी ज्ञान तथा मानविकी की शाखा-प्रशाखाओं के आदि सूत्रों की खोज करने के लिए व्यक्ति वेद तक पहुँचता है तो परम्परित व्याख्याताओं के भाष्यों को पढ़कर उसे निराशा ही होती है। पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक प्रक्रियाओं के अनुसार व्यक्ति, नदी, पहाड़, भूमिखण्ड तथा सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, रुद्र तथा विष्णु आदि की व्याख्या करते रहे हैं तथा पाश्चात्य विद्वानों के अनुगत इतिहासकार वैदिक समाज तथा संस्कृति के मनगढ़न्त व्याख्यान भी वेदमन्त्रों के छुट-पुट उदाहरण देकर करते रहे हैं। आर्य-अनार्यों का संघर्ष, आर्यों की यायावरी वृत्ति, मांस भोज, बहुदेववाद, मदिरापान तथा प्रकृति की शक्तियों के रूप में देवों की परिकल्पना ऐसी ही धारणाएँ हैं जो वेदों के मनगढ़न्त ऐतिहासिक व्याख्यान की उपज हैं। समाज व्यवस्था, राजधर्म, व्यवहार या कानून, राजनीतिक संगठन तथा साहित्य और कला की दृष्टि से वेद-व्याख्यान की शैली भी पूर्व-ग्रहों से जकड़ी हुई है। महर्षि दयानन्द ने वेद की व्यापक फलक पर व्याख्या की तथा उसे अद्यतन ज्ञान-विज्ञान की अद्भुत 'ज्ञानराशि' बताकर उसकी सार्वजनीन एवं सार्वकालिक व्याख्या की। उनकी सम्मति में वेद का रचयिता सर्वज्ञ परमात्मा ही हो सकता है। दुर्भाग्य की बात है कि आज तक कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका जिसके आधार पर कहा जा सके कि उसमें वेद में वर्णित किसी विद्या विशेष—विज्ञान विशेष का सांगोपांग प्रतिपादन हुआ है।

शताब्दियों के इतिहास में केवल आचार्य प्रियव्रत का ग्रन्थ वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (तीन भाग) ही उल्लेखनीय कृति है जिसमें राजनीति विज्ञान का मौलिक और सर्वांगपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। ऐसा प्रतिपादन कि आधुनिक राजनीति विज्ञान वेत्ता भी दंग रह जाएँ इससे स्पष्ट होता है

कि वेद में समग्र राजनीति शास्त्र का वर्णन है । प्रस्तुत पुस्तिका में इस विशाल ग्रन्थ की उन्हीं विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है जिनसे आज का राजनीतिक जगत् भी लाभ उठा सकता है ।

यदि आचार्य जी की शैली का अनुकरण कर वैदिक समाजशास्त्र, वैदिक दर्शनशास्त्र, वैदिक अर्थशास्त्र, वैदिक मनोविज्ञान, वैदिक पर्यावरण विज्ञान, वैदिक चिकित्साशास्त्र तथा वैदिक विज्ञान जैसे विषयों पर ऐसे ही अध्ययन, अनुसंधान और चिंतन से पूर्ण ग्रन्थ अन्य विद्वान् लिख सकें तो वेद की ही नहीं, संसार की सच्ची सेवा होगी । प्राणिमात्र के कल्याण की वेद निहित विद्या का उद्घाटन ही वास्तविक वेद-पूजा है ।

पुस्तक के मुद्रण के लिए मैं साहित्य भण्डार के संचालक श्री रतिराम शास्त्री तथा प्रकाशन की प्रेरणा के लिए सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा (सेवा निवृत्त आइ० ए० एस० तथा पूर्व अध्यक्ष लोक सेवा आयोग मणिपुर) का आभारी हूँ । श्री कुलपति हूजा की वेद में अपूर्व निष्ठा है तथा वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया है ।

इस कृति के प्रकाशन-यज्ञ में पवित्र धनराशि देने के लिए अपनी विदुषी पत्नी श्रीमती शैलजा पालीवाल एम० ए० तथा संतति विधुशेखर, अपर्णा और वागीश को साधुवाद देता हूँ । वेद भगवान् इन पर अनुग्रह-वर्षा करें ।

श्रावणी, संवत २०४२ — विष्णुदत्त राकेश
३० अगस्त १९८५
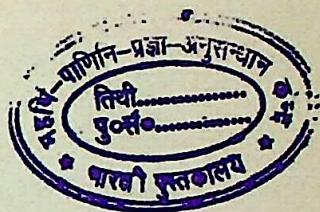
समर्पण

तपस्या, त्याग और निष्काम सेवा की

प्रतिमूर्ति

पूज्य पिता पण्डित चन्द्रभानु पालीवाल

तथा

पूज्या माता रुक्मिणी देवी पालीवाल

के

कर कमलों में

श्रद्धापूर्वक

समर्पित
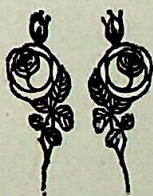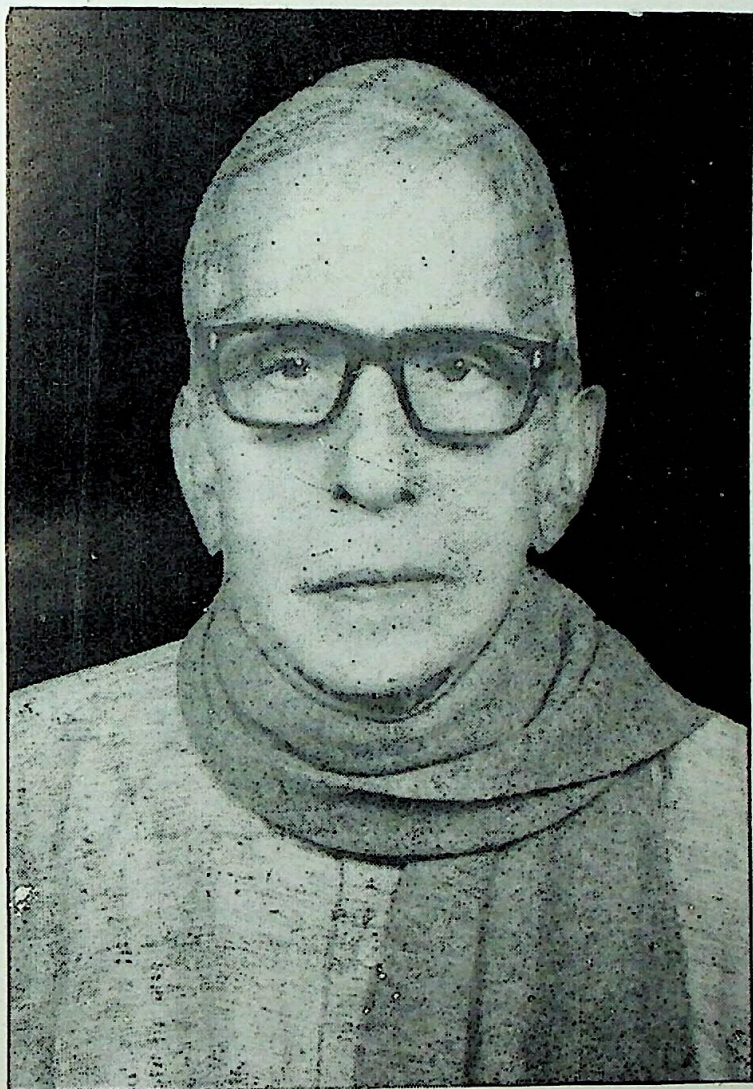
वेदों के शीर्षस्थ विद्वान्
आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड
(पूर्व कुलपति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय)
हरिद्वार
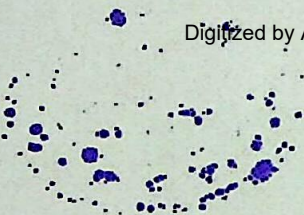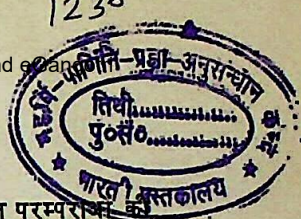
भारतीय पुराविद्याओं तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की मूल परम्पराओं की खोज के लिए यदि अनुसन्धाता मूल उत्स ढूँढने निकलेगा तो उसे वेद अपना मूल पुरुष दिखाई देगा। वेद को जब अखिल विद्याओं का मूल कहा जाता है तब यही धारणा कार्य करती है कि वेद विश्व का प्राचीनतम लिखित ज्ञान-कोश है तथा भारतीय चिन्तन परम्परा से विच्छिन्न किसी विदेशी ज्ञान का पिछलग्गू नहीं। आधुनिकतम विचारों के सूत्र भी वेद में विद्यमान हैं तथा विश्वतोमुख भगवान् वेद आज भी उतने ही सार्थक तथा अनिवार्य हैं जितने वह प्रारम्भ में रहे होंगे। इनमें विविध देवताओं के गुण-कार्यों तथा उनकी स्तुतियों के व्याज से विभिन्न जीवनोपयोगी विषयों पर प्रकाश पड़ता दिखाई देता है। यह ठीक है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का सूत्रबद्ध तथा साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किसी एक स्थल पर नहीं मिलता किन्तु विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए विशेषणों तथा वर्णनों को यदि किसी क्षेत्र विशेष या ज्ञान विशेष के परि-प्रेक्ष्य में एकत्र कर उसका क्रमबद्ध निबन्धन कर लिया जाये तो शास्त्र विशेष की मूल रूप-रेखा प्राप्त हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। आचार्य प्रियव्रत वेद-वाचस्पति की मान्यता है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, सविता, सोम और पूषा आदि अन्य देवताओं के वेद के विभिन्न स्थलों में पाये जाने वाले विशेषणों और वर्णनों के आधार पर इन देवताओं-वाची पदों के भी अनेक अर्थ हो जाते हैं और उनसे वेद में वर्णित अनेक ज्ञान-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। वेद के मध्यकालीन भाष्यकारों ने प्रायः वेद के यज्ञपरक अर्थ ही किए हैं किन्तु अध्यात्मपरक अर्थ के बिना उनका भी काम नहीं चला। यजुर्वेद तो प्रायः यज्ञवेद माना ही जाता है किन्तु उसके भी ३२ तथा ४०वें अध्यायों के अर्थ केवल अध्यात्मपरक ही हो सकते हैं। उव्वट और महीधर जैसे याज्ञिकों ने भी 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्-वायुस्तदु चन्द्रमाः' जैसे मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक ही किए हैं तथा ब्रह्मयज्ञ में जप तथा अध्ययनार्थ इनका प्रयोग विहित माना है। ४०वें अध्याय के प्रारम्भ में ही उव्वट तथा महीधर ने स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ कर्मकाण्ड समाप्त हो गया है और ज्ञान काण्ड प्रस्तावित है। इनका कर्म में विनियोग नहीं हो सकता।

समाप्तं कर्मकाण्डमिदानीं ज्ञानकाण्डं प्रस्तूयते—उव्वट

ईशावास्यमित्यादि मंत्राणंणां कर्मसु विनियोगो नास्ति—महीधर

तब केवल याज्ञिक विनियोग की शर्त वेद में कैसे स्वीकार की जा सकती है? निरुक्त के टीकाकार स्कंद् माहेश्वर ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि वेद-मन्त्रों की अध्यात्म, अधिदैवत, याज्ञिक तथा अन्य दार्शनिक व्याख्यायें हो सकती हैं। 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः' कथन की यही पृष्ठभूमि है। 'अदिति-

द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' मन्त्र की उन्होंने त्रिविध व्याख्या की है—(१) ऐतिहासिक, (२) नैरुक्त तथा (३) अध्यात्म पक्षीय।

अदितिरित्यनवगतम्। अनेकार्थत्वं च दर्शनभेदेन। कथम्? ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणा। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः।

यही नहीं, सायण, उव्वट तथा महीधर भी एक मन्त्र की व्याख्या में एकमत नहीं। किसी मन्त्र का कोई अधिदैवत अर्थ करता है तो कोई अध्यात्म प्रदान अर्थ करता है। उदाहरण के लिये 'इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वगात् पद्वतीभ्यः' का अर्थ सायण ने उषापरक किया है तो उव्वट ने वाक्-परक किया है और महीधर उषापरक् तथा वाक्परक दोनों ही तरह का अर्थ करते हैं। फिर इन भाष्यकारों की यह प्रतिज्ञा कहाँ रही कि इन मन्त्रों का यज्ञ में ही विनियोग हो सकता है। सायण ने भी किसी-किसी मन्त्र के एकाधिक प्रक्रियागत अर्थ किए हैं। देवतापरक, यज्ञपरक तथा अध्यात्मपरक अर्थों के अतिरिक्त अधिभूत अथवा अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हुए उन्होंने परम्परित लीक से हटने का सामर्थ्य दिखाया है। अथर्व के एक मन्त्र 'वज्रं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि' का अर्थ जहाँ वह इन्द्रियपरक् तथा ऋत्विक्परक् करते हैं वहाँ योद्धृपरक अर्थ करके वह अधिभूतपरक अर्थ करने में सहमति व्यक्त करते हैं फिर यदि महर्षि दयानन्द मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-विज्ञान के सूत्र वेद-मन्त्रों में खोजते हैं तब उन्हें परम्परावादी टेढ़ी दृष्टि से क्यों देखते हैं? सायण यदि मन्त्र का अधिराष्ट्र-परक अर्थ करते हैं तब तो ठीक पर यदि स्वामी दयानन्द मन्त्र का अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हैं तब परम्परावादी उन्हें उचित नहीं ठहराते। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के मन्त्र 'त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषितः' आदि की व्याख्या में स्वामी जी ने राजा और प्रजा के धर्म पर विचार किया था किन्तु परम्परानिष्ठ अर्थ के उद्धारक स्वामी करपात्री जी ने वेदार्थपरिजात (१४३९ पृष्ठ) में आश्वलायन श्रौतसूत्र के 'उद्ब्रह्माणमितष्टे वे तीतरावहरहः शस्ये', का हवाला देते हुए अर्थ किया कि हे इन्द्र और बरुण राजाओं, हमारे इस यज्ञ में यजनीय सोम आदि सामग्रियों से परिपूर्ण तीन सवनों को आप लोग अलंकृत करें। हे इन्द्र क्या तुम यज्ञ में जाने वाले हो। मैंने उस यज्ञ में पवन के समान चञ्चल गति वाले, सोम के रक्षक स्वानभ्राज प्रभृति गन्धर्वों को जाते देखा है। स्वानभ्राज प्रभृति गन्धर्वों का उल्लेख तैत्तिरिय संहिता में मिलता है। इस तरह से इस मन्त्र में राजधर्म के वर्णन के सपने देखना ठीक नहीं।' परम्परावादी एक ओर मनु की दुहाई देकर वेद को समस्त विद्याओं का मूल मानते हैं पर भाष्य करते हुए व्यवहार में वह इस प्रतिज्ञा का पालन नहीं करते। सायण उनकी दृष्टि में इसलिए प्रमाण है क्योंकि उसने ऋषि प्रणीत अनुक्रमणी के

आधार पर व्याख्या की है।[1] स्वामी जी के अर्थ जहाँ निरुक्तकार ऋषि से पुष्ट हैं वहाँ तर्क ऋषि की कसौटी पर भी खरे उतरे हैं। पाश्चात्य भाष्यकार जब वेद को केवल उपासनाकाण्ड और इतिहास से जोड़कर जनजीवन के लिए निरर्थक सिद्ध कर रहे थे तब स्वामी जी ने जीवनोपयोगी विश्वजनीन दृष्टि से वेदभाष्य कर वेदों की अपरिहार्यता सिद्ध की। आज तो समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, विज्ञान, गणित आदि आधुनिक पद्धति के विचारक भी वेद में अपने अनुरूप सामग्री प्राप्त कर आश्चर्यचकित होने लगे हैं। इस दृष्टि से वेद और व्यावहारिक जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान को जोड़ने वाले दयानन्द पहले आचार्य हैं। राष्ट्रयज्ञ के जो सूत्र उन्होंने अपने भाष्य में दिए वे वेंकटमाधव, स्कंद, उव्वट, महीधर तथा सायणाचार्य में नहीं मिलते।

आचार्य प्रियव्रत दयानन्द के वाद पहले भाष्यकार हैं जो एक आधुनिक शास्त्र की वैदिक परिकल्पना के लिए मन्त्रों का राष्ट्रयज्ञपरक अर्थ करते हैं। महर्षि दयानन्द समयाभाव के कारण किसी भी आधुनिक शास्त्र का सम्यक् परिकल्पना और संयोजन वेद के साथ नहीं कर सके थे पर उन्होंने अपने भाष्य में सूत्र अवश्य दे दिये थे। आचार्य प्रियव्रत जी ने सर्वप्रथम सामाजिक तथा राजनीतिक विज्ञान पर वैदिक दृष्टि से ग्रन्थ के निर्माण का संकल्प लिया। १९२५ से लेकर १९८३ तक वेद का निरन्तर अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन-मनन करते हुए उन्होंने जो कुछ अर्जित किया उसके परिणामस्वरूप 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ से १९८३ में मुद्रित हुआ है। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दीवर्ष में देश के वैदिक विद्वानों के जो कार्य प्रकाशित होकर सामने आए हैं, उनमें यह ग्रन्थ मील का पत्थर सिद्ध होगा। मनु महाराज ने जो घोषणा की थी[2] कि वेद शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति सेनापत्य अर्थात् सेनाओं का संघटन और संचालन कर सकता है, दण्डनेतृत्व अर्थात् न्याय व्यवस्था का संचालन कर सकता है और सर्वलोकाधिपत्य अर्थात् सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य का संचालन कर सकता है—को सायण आदि चरितार्थ न कर सके थे, उनके तथा उनके अनुयाइयों के वेदभाष्यों तथा ग्रन्थकारों में इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की कोई झलक नहीं मिलती। इधर श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी उदासीन की एक पुस्तक विश्वतोमुखभगवान् वेद प्रकाशित हुई है इसमें एक निबन्ध 'वेद में विश्व का संविधान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। लेखक का कहना है कि विश्व एक महान् राज्य है जिसमें भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारी मन्त्रिगण अपने-अपने

१. वेदार्थ पारिजात—पृष्ठ १६७४।

२. सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु० १२/१००

विभागों को कुशलता से चलाते हैं जैसे आज के प्रजातन्त्र के शासन में राष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष, प्रधानमन्त्री, अन्य मन्त्रिगण अपने-अपने शिक्षा, रक्षा, स्वास्थ्य, खाद्य, उद्योग आदि विभाग चलाते हैं, विश्वराज्य में वही व्यवस्था चालू है।[१] फिर उन्होंने विश्वराज्य के शासनाधिकारियों की सूची दी है। ऋग्वेद के दशममण्डल के अन्तिम सूक्त के 'संगच्छध्वं', 'समानो मन्त्रः' तथा 'समानी व आकूतिः' शीर्षक तीन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए उन्होंने काल्पनिक संविधान की चर्चा की है पर विश्वराज्य की अवधारणा, उसकी व्यावहारिक कल्पना तथा मन्त्री और उनके मन्त्रालयों के समर्थन में उन्होंने एक भी मन्त्र नहीं दिया। अग्नि को शिक्षामन्त्री, ब्रह्मणस्पति को उप-शिक्षा-मन्त्री तथा बृहस्पति को शिक्षा सचिव कहना, सविता आदि सोलह आदित्यों को खाद्यमन्त्रालय का सहायक सचिव कहना, वेन को बालक संरक्षण मन्त्री, भग को अर्थ मन्त्री, क प्रजापति को गुप्तचर मन्त्री कहना तथा अश्व को वाहन संचार मन्त्री कहना कोरी कल्पना ही कहा जायेगा। लेखक ने इस धारणा की पुष्टि में कोई मन्त्र नहीं दिए। फिर आधुनिक राजनीतिशास्त्र तथा संविधान के रूप से भी स्वामी जी परिचित नहीं जान पड़ते। जीवन मन्त्रालय तथा प्रकाश मन्त्रालय का स्वतन्त्र अस्तित्व महत्त्वपूर्ण नहीं फिर वायु को जीवन मन्त्री तथा विद्युत् को प्रकाश मन्त्री कहने का भी कोई संगत आधार नहीं। अतः यह प्रयत्न ठोस आधार के बिना निरर्थक ही जान पड़ता है। विश्व संविधान में अर्थात् ब्रह्म के शासन की व्यवस्था में ही स्वामी जी ने रुचि प्रदर्शित की है। इन देवताओं को ब्रह्मरूपी राष्ट्रपति के आधीन कर्मचारी स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में रुद्र देवता विशेष ही ब्रह्म का सेनापति सिद्ध होता है किसी भी आदर्श सेनापति में उसके गुण और विशेषताएँ गतार्थ नहीं होती। ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति को भिन्न-भिन्न देवता मानने का भी कोई आधार होना चाहिए। बृहत् का रक्षक और पालक होने से बृहस्पति की सार्थकता निरुक्तकार ने मानी है। ब्रह्मणस्पति भी बृहस्पति का ही वाचक शब्द है। सायण ने **'अन्नस्य परिवृढ़स्य कर्मणो पते वा पालयितः'** कहकर एक ओर अन्न अथवा परिवर्धित कर्म का स्वामी बताया है तो दूसरी ओर **'ब्रह्मणां मन्त्रणा स्वामिनं'** कहकर उसे मन्त्रों का कर्त्ता बृहस्पति कहा है। शतपथ में तो **'अयं वै बृहस्पतिर्योऽयं वायुः पवते'** तथा **'एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः'** कहकर वायु तथा प्राण को बृहस्पति कहा गया है तब वायु को जीवन मन्त्री और बृहस्पति को शिक्षासचिव कहना कहाँ तक शास्त्रसम्मत है? ऋग्वेद के 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रमापो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि' (१०/९८/५, ६) में

---

१. विश्वतो मुख भगवान् वेद—पृष्ठ २४३।

वृहस्पति का वृष्टि से भी सम्बन्ध बताया गया है। ऋग्वेद (२/२४/८) में ही आता है कि वृह्मणस्पति अपने धनुष से शत्रु पर वाण छोड़ता है इसके वाण कर्णयोनि हैं। तात्पर्य यह कि ये बाण मन्त्र या वाक्-रूप हैं तथा कान में प्रविष्ट होकर आन्तरिक दोषों का हनन करते हैं। वृहस्पति के धनुष की प्रत्यञ्चा ऋत् है तथा मन्त्रशक्ति उसके बाण हैं। गणपति तथा वृह्मणस्पति को एक मानकर ऐतरेय ब्राह्मण में भी 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यम् कहकर गणपति, वृह्मणस्पति तथा बृहस्पति को अभिन्न बताया गया है। मैत्रायणी संहिता (२/२/३) में भी आता है कि वृहस्पति गणी है, अर्थात् गण-स्वामी है। 'बृहस्पतिर्गणी सजातैरेनं गणिनं करोति।' पण्डित भगवद्दत्त वेदालङ्कार ने ऋग्वेद के (५/५१/१२) 'वृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये' साक्ष्य पर वृहस्पति का सर्वगणाधिपत्य स्वीकार किया है।[1] मैत्रायणी संहिता में 'ब्राह्मणस्पत्यं चरुं निर्वपेत् संग्रामे' उल्लेख है। यहाँ संग्राम पद से युद्ध-शिक्षा का ग्रहण अभिप्रेत होना चाहिए। फिर संग्राम का अर्थ ग्रामों का समूह भी हो सकता है तब उसका सम्बन्ध राजस्व से होना चाहिए। गंगेश्वरानन्द जी के संवैधानिक ढाँचे में असन्तुलन भी है। शिक्षा-मन्त्रालय के तो मन्त्री, उपमन्त्री तथा सचिव पद दिए गए हैं और सुरक्षा-मन्त्रालय में केवल मन्त्री, उपमन्त्री तथा सेनाध्यक्ष का ही उल्लेख है। सोम को एक ओर ओषधियों का राजा तो दूसरी ओर व्यवस्थापक बताया गया है। अन्न और गो को स्वास्थ्य-मन्त्रालय में रखा गया है जबकि गुण-कार्य से उन्हें खाद्यमन्त्रालय में स्थान मिलना चाहिए था। कुल मिलाकर यह सारा प्रकरण सुचिंतित और सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

विदेशी विद्वानों की प्रायः यह धारणा रही है कि राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र का आगमन भारत में वाहर से हुआ। सर्वप्रथम डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने हिन्दू राजतन्त्र लिखकर यह संभावना उजागर की, कि भारतीय राजशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। मनुस्मृति, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकनीति, शुक्रनीति, नीतिवाक्यामृत (सोमदेव-सूरिकृत) तथा राजधर्म निवन्धकारों के राजनीतिकामधेनु, राजधर्मकाण्ड, राजनीतिकाण्ड, राजनीतिरत्नाकर, राजनीतिप्रकाश, नीतिमयूख और राजनीति कौस्तुभ जैसे ग्रन्थों से भारतीय राजनीतिविषयक सिद्धान्तों का पता चलता है। डा० जायसवाल के अतिरिक्त डा० ए० एस० अल्तेकरकृत प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, शामशास्त्रीकृत 'सल्यूशन आफ द इण्डियन पालिटी' तथा दीक्षितार रचित 'हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स' भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं के योगदान पर प्रकाश डालने वाले अच्छे ग्रन्थ हैं पर इन सभी लेखकों ने मनु, कौटिल्य तथा परवर्ती राजधर्म निबन्धकारों की मध्यकालीन कृतियों

---

१. वृहस्पति देवता—पृष्ठ ६१।

को दृष्टि में रखकर ही राज्य की उत्पत्ति, राजा का स्वरूप, मंत्रि-परिषद् राष्ट्र का स्वरूप, कोश, दुर्ग, युद्ध, सैन्य-संगठन, न्याय, सेनापति, जनपद, मण्डल, राज़पद, के लिए योग्यता, चयन-प्रक्रिया तथा राजधर्म पर विचार किया है। वैदिकयुगीन राजशास्त्र की विशेष परिकल्पना इन निबन्धकारों के मस्तिष्क में थी ही नहीं। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं—(१) एक तो वेदों की ऋचाओं में क्रमबद्धरूप में विषयवार राजतन्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं मिलता तथा (२) जिन ऋचाओं का परम्परावादी यज्ञ, उपासना तथा दर्शन में विनियोग करते रहे हैं, उनसे राजनीतिशास्त्र के पक्षों का प्रतिपादन करना बड़े से बड़े विचारक के बूते का काम नहीं फिर विषयानुसार ऋचाओं को पृथक् कर राजशास्त्रसम्बन्धी सामग्री का संचय करना और फिर उसके विश्लेषण में प्रवृत्त होकर स्वतन्त्रशास्त्र की प्रतिष्ठा करना साधारण कार्य नहीं है। इसीलिए आजतक वैदिक राजनीतिशास्त्र पर किसी विद्वान् द्वारा कोई सांगोपांग ग्रन्थ नहीं लिखा जा सका। प्राचीन भारतीय इतिहास के लेखकों ने भी योरोपीय विद्वानों के आधार पर आर्यों के राजनीतिक संगठन पर विचार किया है। ग्रिफिथ ने सभा और समिति शब्दों का ब्यौरा देते हुए समिति को राष्ट्र की सारी जनता की राजनीतिक संस्था माना है और डा० जायसवाल ने राजा का चुनाव समिति द्वारा ही माना है। समिति को विश मानना भी उनकी भूल है। वेद में सभा का उल्लेख ३४ स्थानों पर तथा समिति का उल्लेख २१ स्थानों पर हुआ है। सभा और समिति के कार्यों का उल्लेख अथर्ववेद के सातवें काण्ड के बारहवें सूक्त के '**सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने**' शीर्षक चार मन्त्रों में हुआ है। सभा और समिति राज्यकार्य में सहायता देने वाली राजनैतिक संस्थाएँ हैं, इनका सम्बन्ध चुनाव से नहीं है। सभा का अर्थ ग्रिफिथ ने ग्रामों के लोगों का संगठन या जमाव दिया है। कीथ ने सभा को अधिवेशन का स्थल माना है तथा समिति को 'जन' का कार्य सम्पादित करने वाली संस्था स्वीकार किया है! डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने सभा को जनवृद्धों की संस्था तथा समिति को समग्र जनता की संस्था कहा है।[1] उत्तरवैदिककाल में डा० त्रिपाठी सभा और समिति को मृतप्राय मानते हैं। उनकी संभावना है कि राज्यों के क्रमिक विस्तार से उनकी क्षति हुई होगी तथा उनके अधिवेशन नगण्य हो गए होंगे। डा० जायसवाल के समान ही वह सभा को न्यायस्थल तथा समिति को राजा का निर्वाचन करने वाली संस्था मानते हैं तथा अपने पक्ष में अथर्व की '**ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह**' श्रुति उद्धृत करते हैं।[2] तात्पर्य यह है कि इतिहास और राजनीति के आधुनिक विद्वान् वेद के पाश्चात्य

---

१. प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ २५।

२. प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ ३४।

चिन्तन को ही अपना आधार बनाकर चले हैं। आचार्य प्रियव्रत ने सर्वप्रथम इस गड्डलिका प्रवाह को नया मोड़ दिया। उन्होंने कहा, समिति एक राजनीतिक सभा है जिसमें राज्य के नियमों और नीति आदि सभी आवश्यक विषयों पर विचार होता है और जिसका राजा पर नियन्त्रण रहता है। राजा के चुनाव से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। राजा का चुनाव तो सारी प्रजा सीधे रूप में करती है। सभा और समिति एक ही नियामक सभा की छोटी-बड़ी दो सभाएं हैं। ये एक ही नियामक सभा की दो सभाएँ हैं इसकी इससे भी पुष्टि होती है कि अथर्व ७/१२/३ में सभा और समिति दोनों को सामान्य सभावाची 'संसद:' इस षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त शब्द से भी अभिहित किया है। इसी भांति **'सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम'** (ऋक् ४/१७/४) व्याख्यात मन्त्र में सम्राट् की सभा के लिए सामान्य सभा वाची 'सदस:' इस षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। सभा छोटी सभा (Lower House) और समिति बड़ी सभा (Upper House) समझनी चाहिये।[1] सभा और समिति में सारी प्रजा नहीं, प्रजा के निर्वाचित सदस्य बैठते थे। प्रजा का कोई भी वयस्क व्यक्ति सभा और समिति का सदस्य बन सकता था। अत: डा० त्रिपाठी का यह अनुमान कि सभा में वृद्ध जन ही होते थे, संगत नहीं जान पड़ता। सभा और समिति के अतिरिक्त तीसरी सभा का संकेत भी वेद में मिलता है। **'त्रीणि राजाना विदथे सदांसि'** मन्त्र में राष्ट्र यज्ञ को चलाने के निमित्त तीन सभाओं को बनाने का उपदेश है। डा० जायसवाल प्रभृति इतिहासकार इसकी चर्चा ही नहीं करते किन्तु आचार्य प्रियव्रत इस तीसरी सभा को मन्त्रि-परिषद् या राज्य की कार्यकारिणी सभा मानते हैं। इस मन्त्रि-परिषद् की स्थिति आजकल की कैबिनेट जैसी होगी।[2] डा० जायसवाल तथा उनके अनुयाइयों ने **'ध्रुवाय ते समिति : कल्पतामिह'** तथा **'नास्मै समितिः कल्पते'** वाक्यों का जो अर्थ राजा के चुनाव सम्बन्ध में दिया है, वह भी ठीक नहीं। प्रियव्रत जी ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि यहाँ सम्राट् के राज्यारोहण का वर्णन है। प्रजाओं ने मिलकर राजा को चुना है, उसके लिए पहाड़, पृथिवी और द्यौ की तरह स्थिर (ध्रुव) होकर राज्य करने की आशंसा की गई है। अन्तिम मन्त्र में राजा को सम्बोधित करके कहा है—'ध्रुवोऽच्युत: प्रमृणीहि शत्रून् छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व। सर्वादिश: संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह' (अथर्व ६/८८/३) अर्थात् स्थिर (ध्रुव) और न गिरने वाला होकर शत्रुओं का नाश कर, शत्रुता करने वालों को नीचे पहुँचा दे। सब दिशाएं (दिशाओं में रहने वाली प्रजाएँ) एक मन वाली और तेरे साथ मिलकर

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २३१।
२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—२४५।

चलने वाली (सध्रीचीः) हों, तुझ स्थिर के लिए (ध्रुवाय) समिति कार्य करने में समर्थ होवे।' 'कल्पताम्' 'क्लृपू' सामर्थ्ये धातु के लोट् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचन है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि समिति सामर्थ्यवती बने—अपने कार्यों को करने में समर्थ हो सके, और इस प्रकार की समर्थ समिति से तुझे (राजा को) प्रत्येक प्रकार की सहायता मिलती रहे। हमें यह समझ में नही आता है कि इस वाक्य मे यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि समिति राजा को चुने। हाँ, यदि वाक्य इस प्रकार होता कि 'समितिः त्वां ध्रुवं कल्पयतु' तब तो कदाचित् ऐसी ध्वनि निकल सकती थी कि समिति राजा के चुनाव में भी भाग लेती है पर फिर भी वह ध्वनि ही होती। परन्तु 'ध्रुवाय ते समितिः कल्पयताम्' वाक्य से जायसवाल महोदय का अर्थ कभी नहीं निकल सकता। इसी प्रकार दूसरे वाक्य 'नास्मै समितिः कल्पते' पर विचार करते हुए भी कहा जा सकता है कि इस वाक्य का तो केवल इतना अभिप्राय है कि जो राजा ब्राह्मण की गौ (वाणी की स्वतन्त्रता) को मार देता है उसकी समिति कार्य करने में समर्थ नहीं रहती। इससे समिति का राजा के चुनाव से कोई सम्बन्ध नहीं प्रकट होता। जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें राज्यारोहण या राजा के चुनाव का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ तो वाणी की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राजा पर आने वाली विपत्तियों को गिनाया गया है। इसलिए जायसवाल महोदय ने यूरोपीय लेखकों के आधार पर समिति और विशः को पर्यायवाची मानने की भूल की है। उनका यह विचार भी भूल है कि समिति का राजा के चुनाव में किसी प्रकार का हाथ है। हाँ, उनका यह कथन सही है कि समिति में राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार होता है। समिति एकत्र हुई सारी प्रजा का नाम नहीं है, समिति प्रजा के प्रतिनिधियों की सभा है जिसमें राज्य की बातों पर विचार होता है और जो राज्य की सारी नीतियों को नियंत्रित रखती है।[1]

तात्पर्य यह कि आचार्य प्रियव्रत से पूर्व के वैदिक विद्वानों तथा प्राचीन भारतीय इतिहास और राजनीति शास्त्रकारों ने वेद की कतिपय ऋचाओं के आधार पर जो राजनीति की रूपरेखा प्रस्तुत की वह नितान्त अशास्त्रीय और मनगढ़न्त थी। सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० श्यामलाल पाण्डेय ने वैदिक राजशास्त्र की असंभाव्यता पर विचार व्यक्त करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि ऋग्वेद में किसी भी विषय का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसमें प्राप्त राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री पर भी यही नियम लागू होता है। राजशास्त्र विषयक ऋचाएँ, सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र मुक्तक छन्दों के रूप में बिखरी हुई हैं। इन ऋचाओं में भी राजशास्त्र विषय का स्पष्ट वर्णन कहीं भी प्राप्त नहीं

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—२३८।

है। इन ऋचाओं की राजशास्त्र सम्बन्धी सामग्री में कतिपय सिद्धान्तों की ओर संकेत मात्र किए गए हैं। इन संकेतों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्पष्ट स्वरूप की स्थापना नहीं की जा सकती। अन्य तीन संहिताओं के विषय में भी यही कहना उचित होगा। इन तीन संहिताओं में भी राजशास्त्र विषय का क्रमबद्ध वर्णन न होने के कारण संहिताकालीन प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के स्वरूप की स्थापना करना असम्भव है। भाव यह कि राजशास्त्र विषय का शास्त्रीय अध्ययन एवं उसका चिन्तन वैदिक-युग के समाप्त होने के बहुत पश्चात् हुआ है।[1] यही कारण है कि राजशास्त्र और प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्वान् डॉ० श्यामलाल पाण्डेय भी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की प्रमुख विचारधाराओं—धर्मप्रधान, अर्थप्रधान तथा दण्डप्रधान—का विचार करते हुए एक भी मन्त्र उद्धृत नहीं कर सके। त्रयी, वार्ता, दण्ड-नीति पर अवलम्बित उक्त विचारधाराओं का कौटिल्य के साक्ष्य पर विवेचन करते हुए उन्होंने प्राक् मौर्यकाल के राजशास्त्र प्रणेताओं के अस्तित्व की सम्भावना तो व्यक्त की पर वैदिक-युग और सूत्रकालीन राजशास्त्र की किसी क्रमबद्ध ठोस सामग्री के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकने में असमर्थता भी व्यक्त की। उन्होंने कहा कि यह साधारण कार्य नहीं है। इस कार्य के सम्पादन हेतु अतुल-धन, असीमित समय, अदम्य साहस, महान् धैर्य, अगाध-ज्ञान एवं इस प्रकार के अन्य विपुल साधनों की आवश्यकता होगी। इतना महान् कार्य एक व्यक्ति की सामर्थ्य से परे है। इसके लिए इन समस्त साधनों से सुसम्पन्न एक संस्था के निर्माण की परम आवश्यकता है जो इस महान् कार्य के सम्पादन का भार ग्रहण कर सके। जब तक यह महान् कार्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक वैदिक-युग के राजशास्त्र-प्रणेताओं का निश्चय करना एवं राज-शास्त्र के इतिहास में उनको उचित स्थान देना सम्भव नहीं।[2]

इस विवरण के परिप्रेक्ष्य में सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य प्रियव्रत और उनके ग्रन्थ 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' का क्या महत्त्व है? एक व्यक्ति ने एक संस्था बनकर बिना किसी सरकारी सहायता के उस अभाव की पूर्ति की है जिसकी ओर डॉ० श्यामलाल पाण्डेय ने १९६४ ई० में हिन्दी समीति, सूचना-विभाग उत्तरप्रदेश से प्रकाशित अपने प्रमुख ग्रन्थ 'भारतीय-राजशास्त्र-प्रणेता' में संकेत दिया था। परम्परावादी वैदिक विचारकों तथा पाश्चात्य इतिहासकारों एवं वैदिक साहित्य का आधुनिक शास्त्र-निर्माण में उपयोग करने वाले अनुसन्धायकों ने जिस कार्य को सर्वथा असम्भव मान लिया था, उसे आचार्य जी ने अद्भुत पाण्डित्य के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने

१. भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता—पृष्ठ २।
२. भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता—पृष्ठ १४।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का भी गहरा अध्ययन किया है। डॉ० जायसवाल, ग्रिफिथ तथा मार्क्स जैसे विचारकों की मान्यताओं के विश्लेषण और खण्डन के प्रसंग में उनके शास्त्रीय चिन्तन-मनन का पता चलता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने 'समाज का कायाकल्प' नामक पुस्तक की रचना की है। इसमें वेद और वर्णाश्रम व्यवस्था, वैदिक समाज एवं अर्थ-व्यवस्था, तथा वैदिक राज-व्यवस्था शीर्षक तीन अध्याय हैं जिसके आधार पर वैदिक समाजशास्त्र का ढाँचा खड़ा किया गया है। आचार्य जी के विवेचन की विशेषता यह है कि वह ऋचाओं और मन्त्रों का व्याकरण पुष्ट, सन्दर्भ-युक्त अर्थ करते हैं तथा लाक्षणिक और व्यञ्जक प्रयोगों को स्पष्ट करते हुए प्रसंग प्राप्त संगत अर्थ प्रदान करते हैं। सायण आदि भाष्यकारों से तटस्थ भाव रखते हुए आवश्यकतानुसार सहमति तथा असहमति व्यक्त करते हुए चलते हैं तथा विषय के समग्र प्रतिपादन में सभी संहिताओं से मन्त्रों तथा वाक्यांशों को उद्धृत करते हुए चलते हैं। इतिहासवाद का खण्डन करते हुए अधि-दैवतवाद का खण्डन करते हुए उन्होंने गुणवाची यौगिक शब्दों की सत्ता स्वी-कार कर शिक्षायुक्त अर्थ किया है। वह मन्त्रों पर किसी प्रकार की कथाओं और कहानियों को जड़ना ना-पसन्द करते हैं। आचार्य सायण ने वेद-मन्त्रों के क्रियापदों के भूतकालिक प्रयोगों को देखकर वेदमन्त्रों में अनेक कथाओं तथा इतिहास प्रधान घटनाओं का उल्लेख किया है पर आचार्य जी ने इन कथाओं को कल्पित मानकर मन्त्र विशेष का अर्थ किया है। लौकिक संस्कृत-व्याकरण की अपेक्षा वैदिक-व्याकरण के विशेष नियमों से संगत मन्त्रार्थ की प्राप्ति में सहायता मिलती है। शुद्ध मन्त्रार्थ की कसौटी है कि वह ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के विरुद्ध न हो, सृष्टिक्रम के विरुद्ध न हो तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध न हो। वेद के मर्माशय तक पहुँचने में इस सावधानी की आवश्यकता है। पण्डित प्रियव्रत जी ने इस प्रसंग में सप्रमाण ऋषि दयानन्द और उनके व्यत्यय सिद्धान्त की व्याख्या की है। वेद के काल पर विचार करते हुए दो प्रमुख सरणियों की समीक्षा की है। पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल्ड, कीथ, जैकोबी तथा भारतीय विद्वान् बालकृष्ण दीक्षित, तिलक, अविनाशचन्द्र दास तथा पण्डित दीनानाथ शास्त्री मन्त्रों में आए ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम तथा नक्षत्रों की स्थिति से वेद के काल का निर्णय करते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों की युक्ति तथा नक्षत्रों की स्थिति की युक्ति की समीक्षा करते हुए आचार्य जी ने दोनों पद्धतियों को सदोष तथा हास्यास्पद बताया है। उनका कहना है कि 'वास्तव में वेद की अन्तःसाक्षी से वेद के किसी ऐतिहासिक काल का निश्चय नहीं हो सकता। वेद तो अपने पुरुष सूक्त में और दूसरे स्थानों में इतना ही कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने ऋषियों को वेद सिखलाया था। सृष्टि की आयु आर्य जाति के शास्त्रों के अनुसार

१,९६ ०८, ५३, ०८० वर्ष की है। वेद के इस कथन के आधार पर इस कल्प की दृष्टि से वेद का काल भी इतना ही माना जाना चाहिए। यों तो वेद का कोई काल निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि वह परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहता है। अनादिकाल से भगवान् प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों पर उसका प्रकाश करते आ रहे हैं।' यह मान्यता परम्परावादी है और शतपथ, तैत्तिरीय मनु, शंकराचार्य, सायण तथा दयानन्द के स्वर में स्वर मिलाने वाली है। आधुनिक विचारकों को यहाँ मतभेद हो सकता है किन्तु इस मतभेद से भी वेदों की विश्वसाहित्य में प्राचीनना तथा ज्ञान-क्षमता में तो सन्देह नहीं रहता। मध्य-काल में शंकर जैसे तार्किक ने यदि वेदों को 'अनेक विद्यास्थानोपबृंहित' तथा 'सर्वज्ञकल्प' कहा है तो ऋषि दयानन्द और आचार्य प्रियव्रत इसीलिए वेद-मन्त्रों में आधुनिक शास्त्र का प्रतिपादन कर उसकी सर्वज्ञ कल्पना को प्रति-पादित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में पण्डित जी ने विनियोगों की परम्परित प्रणाली का भी निषेध किया है। ब्राह्मणग्रन्थों, श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में वर्णित यज्ञों और गोमेध, अजमेध, अश्वमेध, नृमेध जैसे यज्ञों की विधियों में संकेतित देवताओं तथा मन्त्रों का विनियोगकारों ने जो सीमा क्षेत्र निर्धारित किया है, उसका निषेध इस ग्रन्थ में इसलिए किया गया है कि इनके कारण वेद का विविध ज्ञान-विज्ञान प्रतिपादक स्वरूप ही विलुप्त हो गया है। विनियोगकारों ने मन्त्रों का जो यज्ञों के विधि-विधानों में विनियोग किया है वह प्रमाणिक नहीं है। विनि-योगकारों की अपनी कल्पना के अनुसार वह विनियोग है। अनेक बार मन्त्रों के विनियोग मन्त्रों के अर्थों के साथ मेल नहीं खाते। मन्त्र कुछ और ही बात कह रहा है और विनियोग में उसके विपरीत कार्य किया जा रहा है। उदाहरण के लिए अपने अथर्ववेद भाष्य में सायण ने अथर्व ९/४ सूक्त की भूमिका में लिखा है कि ब्राह्मण वैल को मारकर इस सूक्त के मन्त्रों द्वारा उसके माँस की भिन्न-भिन्न देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देता है। मन्त्रों के द्वारा वैल की प्रशंसा करता है और उसके अंगों में कौन-कौन से किस-किस देवता को प्रिय हैं इसका भी विवेचन करता है। सूक्त में वैल की वलि देकर हवन किए जाने के महत्त्व का भी वर्णन किया गया है और इस हवन से जो श्रेय उत्पन्न होता है, उसका भी स्तवन किया गया है—

'ब्राह्मणो वृषभ हत्वा तन्मांसं भिन्न-भिन्न देवताभ्यो जुहोति। तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम् वृषभ-बलिहवनस्य महत्त्वं च वर्ण्यते 'तदुत्पन्नं श्रेयश्चस्तूयते।'

अथर्व ९/४ सूक्ताभाष्योत्थानिकायां श्रीसायणाचार्यः।

अब यदि सूक्त के मन्त्रों के अर्थों पर वारीकी से विचार किया जाए तो उनमें इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। सूक्त के मन्त्रों से तो यह अर्थ निकलता

है कि गौओं की नस्ल को उन्नत करने के लिए किसी उत्तम बछड़े को साँड बनने के लिए छोड़ना चाहिए। सूक्त की भूमिका में सायण ने कुछ विनियोग-कारों का इस आशय का मत भी दिया है,बैल को मारकर उसके मांस से देवताओं के निमित्त आहुतियाँ दिलवाने वाला सूक्त के मन्त्रों का विनियोग मन्त्रार्थ के विरुद्ध होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। विनियोग के पीछे मंत्रार्थ नहीं चल सकता। मन्त्रार्थ के पीछे विनियोग को चलना होगा। विनियोग तो विनियोग-कारों की कल्पनाएँ हैं। उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।"[1]

खेद है, इस स्वस्थ दृष्टि को परम्परावादी आचार्य नास्तिक्यमूलक मानते हैं। उनके तर्क का आश्रय है 'यदि मन्त्र के प्रभाव से पाषाण भी देवप्रतिमा बन जाते हैं तो कल्प प्रवक्ता ऋषियों के बताए विनियोगानुसार मन्त्रों में (अर्थानुसारी न होने पर भी) ग्रह की प्रतिष्ठा क्यों नहीं हो सकेगी। शन्नो देवी मन्त्र के अर्थ का अनुसरण किए बिना ही शनिग्रह के लिए इसका विनियोग, इसी तर्क का उदाहरण है।[2] इनकी भी विवशता है ये मीमांसाशास्त्र के 'आम्ना-यस्य क्रियार्थत्वात्' के अनुसार वेदों का पर्यवसान यज्ञ में ही मानते हैं। तब उन से ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव मानना उनकी दृष्टि में उचित नहीं ठहरता। वे तो कहीं-कहीं विनियोग के अनुसार गौण अर्थ को भी जैमिनि का साक्ष्य बताकर स्वीकार करते हैं। विनियोग की दृढ़ता से ही पिष्टपशु को पाशुक कर्मानुष्ठान में इन्होंने विधेय माना। रामानुज का साक्ष्य देकर 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्रह्मसूत्र ३।१।२५) की व्याख्या में पशुयाग का समर्थन किया गया। यह अन्तर मूल सिद्धान्त का है। क्योंकि 'अजैर्यष्टव्यम्' अजों से यज्ञ करना चाहिए, यह श्रुति सिद्धान्त है, अतः इसकी पूर्त्ति व्रीहि से करो। क्योंकि सात वर्ष पुराने व्रीहि को अज कहते हैं, पशु विशेष को नहीं। परम्परावादी इस अर्थ को निवृत्ति मार्ग की प्रशंसा का उल्लेखसूचक मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में इससे अश्वमेधादि का विरोध होगा।[3] महाभारत के अनुशासन पर्व में 'श्रूयते ही पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः (११५/५६) के आधार पर व्रीहिमय-पशु का होम में उपयोग कहा गया है अतः यज्ञविधि की पूर्ति के लिए विकल्प का प्राविधान संकीर्ण परम्परावादी भी करते हैं। वे ऋषभपाक का अर्थ औषध विशेष का पाक करते हैं। विनियोग की रक्षा के लिए इस प्रकार के कार्यों की सांकेतिक व्याख्या ढूँढना व्यर्थ का परिश्रम है। अच्छा हो, मन्त्र का अर्थानुसरण कर विनियोग निश्चित किए जाएँ, केवल ऐसे अवसरों पर जहाँ वैदिक मान्यताओं के धूमिल होने की आशंका हो। क्योंकि इस प्रकार के अर्थ

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २२।

२. वेदार्थ पारिजात—पृष्ठ १९८१।

३. वेदार्थपारिजात—पृष्ठ २०५१।

करने से वेद हास्यास्पद और घृणित बातों को कहने वाला बन जाता है। वेद के ईश्वरीय ज्ञान पर ये व्याख्याएँ प्रश्नसूचक चिन्ह लगा देती हैं।

आचार्य प्रियव्रत जी के अर्थ करने की यही दृष्टि है, उनका कहना है कि विनियोग, देवता और अर्थ का निर्णय तर्क से होना चाहिए। किसी सूक्त का परम्पराप्रोक्त देवता ही विशेष है, यह मानने के लिए बाधित नहीं होना चाहिए। पुराने लोग भी यही मानते रहे हैं कि देवता आदि का निर्णय तर्क से होता है उदाहरण के लिए उव्वट ने अपने यजुर्वेद भाष्य की भूमिका में लिखा है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः, ।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दसं च यत् ।

अर्थात् मैं अपने गुरु, शतपथ ब्राह्मण और तर्क के आधार पर मन्त्रों के देवता, छन्द और ऋषियों का वर्णन करूँगा। अब यदि देखा जाय तो देवता आदि का निर्णय तर्क से हुआ। क्योंकि उव्वट के गुरु ने देवता आदि का जो निर्णय किया था वह तर्क के आधार पर ही किया था और शतपथ में तो स्पष्ट लिखा ही नहीं कि अमुक मन्त्र का अमुक देवता है। शतपथगत मन्त्रों के विनियोग को देखकर तर्क से ही निर्णय करना पड़ता है कि अमुक मन्त्र का अमुक देवता है और यदि कहीं शतपथ में किसी मन्त्र का देवता लिखा भी हो तो वह भी याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपने तर्क से ही निर्णय किया है। इस प्रकार देवता आदि का अन्तिम निर्णय तर्क पर ही आकर ठहरता है। यदि किसी सूक्त या मन्त्र का प्रचलित परम्परासिद्ध देवता तर्क संगत प्रतीत न होता हो तो हम उसका परित्याग भी कर सकते हैं और सूक्त या मन्त्र के विषय को देखकर हम देवता की स्वयं कल्पना भी कर सकते हैं।[1] अब चाहे तो सम्पूर्ण सूक्त का विनियोग हो, चाहे तृच् (तीन ऋचाओं का) विनियोग हो अथवा प्रत्येक ऋचा का पृथक्-पृथक् विनियोग हो, मन्त्रार्थ प्राप्त करने को इच्छुक को प्रत्येक पद के स्वर, वर्ण, अक्षर, विनियोग और अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। कहा भी गया है—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च
मन्त्रजिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे।

तात्पर्य यह है कि पदार्थ मुख्य है, विनियोग गौण। विनियोग (परम्परा सिद्ध) सहायक भी हो सकता है और नहीं भी। मन्त्रों के उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट प्राप्ति ही नहीं, मन्त्रार्थ प्रतीति रूप दृष्ट प्रयोजन मानना ही प्रशस्त है। अतः मन्त्र का शब्दार्थ किए बिना विनियोग निश्चय करने में भौतिक प्रयोजन

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ २२१।

की सिद्धि नहीं हो सकती। आचार्य जी ने देवताओं की संख्या सम्बन्धी समस्या पर भी विचार किया है। ऋग्वेद का मन्त्र है—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् १।१३९।११

अर्थात् हे देवो, तुम जो कि अपनी महिमा से द्युलोक में ग्यारह हो, पृथ्वी पर ग्यारह हो और आपः में ग्यारह हो, हमारे इस यज्ञ का सेवन करो। इस प्रकार देवताओं की संख्या ३३ प्राप्त होती है। यास्क ने पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय तथा द्युस्थानीय विभाजन करते हुए ३६ पृथिवी स्थानीय, ६८ अन्तरिक्ष-स्थानीय तथा ३१ द्युस्थानीय देवता बताए हैं। शतपथ ने ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, २ द्यावा-पृथिवी तथा १ प्रजापति को जोड़कर यह संख्या ३१ से ३४ कर दी है।[1] आचार्य प्रियव्रत जी ने पहली बार प्रश्न उठाया है कि वेद के अनुसार आदित्य, रुद्र तथा वसु के गिनाए हुए नाम वेद में नहीं मिलते। वेद में इनके साथ इन प्रचलित संख्याओं का भी उपयोग नहीं हुआ। फिर यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में ही रुद्रों की हजारों, लाखों संख्याओं का निर्देश है। वेद में अग्नि, सोम, अश्विनौ और मरुतों को भी रुद्र कह दिया गया है। आदित्य और विश्वेदेवाः देवता भी एक कहे गए हैं। ऋक् (१०, ७२, ८), अष्टौ पुत्रासो अदितेः' तथा अथर्व (८, ९, २१) 'अदितिरष्टपुत्रा' कहकर अदिति के आठ पुत्र मानता है। फिर ऋग्वेद ही (९, ११४, ३) 'देवा आदित्या ये सप्त' कहकर आदित्यों की संख्या ७ बताता है। अतः स्पष्ट है कि आदित्यों की बारह संख्या में भी कोई एकमत नहीं है। यही स्थिति वसुओं की है। वसुओं के आठ नाम धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास भी कल्पित हैं, इन नामों में से धर, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये चार नाम वेद में हैं ही नहीं। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों और शब्दकोशों में भी नामों की भिन्नता है। वेद में तो रुद्र, अग्नि, इन्द्र, सूर्य को भी वसु कहा गया है। भाष्य करते हुए सायण कई स्थानों पर वसु का तात्पर्य निवास करने वाले वीरजन, प्राण और इन्द्रियों के अतिरिक्त सूर्य की रश्मियों और धन से भी लेते हैं। आचार्य जी के इस निर्णय से सहमत होना पड़ता है कि आदित्य, रुद्र और वसु शब्दों को एक विशेष प्रकार के और एक विशिष्ट संख्या वाले पृथक्-पृथक् देवताओं के गणों का वाचक न समझकर इन्हें अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, पूषा और अश्विनौ आदि सभी देवताओं के विशेषण समझना चाहिए और उसी रूप में इन शब्दों का अर्थ करना चाहिए। स्वयं आचार्य सायण आदि ने कितने ही स्थानों पर आदित्य का किसी से खण्डित न होने वाला, हिंसित न होने वाला, न दबने

---

१. अष्टौ वसवः एकादश रुद्राद्वादशादित्या इम एव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ त्रयस्त्रिंशद्वै देवा. प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः। शतपथ ४/५/७/२।

वाला, रुद्र का दुष्टों को दण्डित करके रुलाने वाला और वसु का बसाने वाला, धन देने वाला; इस प्रकार के यौगिक अर्थ किए हैं। अग्नि आदि देवों के विशेषण के रूप में इन तीनों शब्दों के इस प्रकार के यौगिक अर्थ सर्वत्र हो सकते हैं।[1] छान्दोग्य में आदित्य (४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करने वाला) रुद्र (४४ वर्ष तक) तथा वसु (२४ वर्ष तक) का ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने वाला ब्रह्मचारी—अर्थ किया गया है। तात्पर्य यह कि देवताओं के भी यौगिक अर्थ हो सकते हैं और उनसे जीवनोपयोगी शिक्षा पर प्रकाश पड़ सकता है।

आचार्य जी ने सूक्तों और देवताओं के ऐसे अर्थ किए भी हैं। उदाहरण के लिए सुप्रसिद्ध वागाम्भृणी सूक्त लीजिये। ऋक् सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के दशममण्डल के १२५ वें सूक्त की आठ ऋचाओं का देवता वागाम्भृणी लिखा है। श्री सायण भी अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् को इसका देवता मानते हैं। शाक्त सम्प्रदाय के आचार्य इस सूक्त को दुर्गापरक मानकर इसमें स्वकीय सम्प्रदाय के प्रारम्भिक सूत्र खोजते हैं। आचार्य जी ने परम्परासिद्ध देवता बदल कर तथा मन्त्रार्थ के आधार पर 'राष्ट्री संगमनी' देवता की कल्पना कर अर्थ में चार चाँद लगा दिए हैं। तीसरी ऋचा में 'राष्ट्री संगमनी' नाम आया भी है। इसका एक हेतु यह भी दिया गया है कि सूक्त में बोलने वाली चीज के लिए बार-बार 'अहं'—मैं–शब्द का प्रयोग हुआ है, वह अहं पदवाच्य क्या है, यह 'राष्ट्री संगमनी' पदों से ही स्पष्ट होता है। सारे सूक्त में 'राष्ट्रीसंगमनी' पदों के अतिरिक्त और कोई ऐसा पद नहीं है जिसका वाच्य 'अहं' इस बार-बार दोहराये गये सर्वनाम पद का वाच्य बन सके। वागाम्भृणी शब्द को ध्यान से देखिए। इसमें दो पद हैं, वाग् और आम्भृणी। निघण्टु के आधार पर अम्भृण का अर्थ महान् होता है।[2] आम्भृणी का अर्थ है अम्भृण सम्बन्धी। अतः वागाम्भृणी का अर्थ हुआ महान् की वाणी। गुणगत और परिमाणगत महत्त्व में यह ईश्वरीय वाणी का वाचक हुआ पर वागाम्भृणी वाणी ऐसी होनी चाहिए जिसमें 'राष्ट्री संगमनी' पदों का अर्थ भी संगत हो सके। संख्यागत महत्त्व में इसका अर्थ होगा—बहुतों की वाणी—राष्ट्र के लोगों की वाणी। राष्ट्री संगमनी—राष्ट्री सभा है—इसमें बहुतों के प्रतिनिधियों की वाणी बोल रही है। इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सूक्त में राष्ट्रसभा का ही वर्णन है। क्योंकि बहुतों की वाणी राष्ट्रसभा की वाणी ही हो सकती है और जब कि सूक्त में उसके वर्णन के प्रसंग में राष्ट्री और संगमनी इन दो पदों का भी प्रयोग हुआ हो तब तो हमें वागाम्भृणी का अर्थ राष्ट्र की

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ ६२)
२. अम्भृण इति महन्नामसु पठितम्—निघण्टु ३/३

या राष्ट्र सभा की वाणी ही करना होगा। इस सूक्त की आठों ऋचाओं का इसी परिप्रेक्ष्य में अर्थ करते हुए राष्ट्रसभा के कार्यों का विवेचन लेखक ने किया है। राष्ट्रीसंगमनी के ही सभा और समिति दो विभाग हैं जिन्हें अथर्व (७/१२) में प्रजापति (राजा) की राज्य सम्बन्धी बातों को पूरा करने वाली बताया गया है। मैं स्वयं आश्चर्यान्वित था कि सूक्त की अन्तिम दो ऋचाओं का 'राष्ट्री संगमनी' परक अर्थ कैसे होगा ? ये ऋचाएँ हैं—

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ।
अहमेव वात इव प्रवाम्या रभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सं बभूव ॥

श्री सायणकृत भाष्य के आधार पर इसका अर्थ है कि महर्षि अम्भृण की कन्या वाक् कहती है कि मैं ही इस जगत् के पिता रूप आकाश को सर्वाधिष्ठान स्वरूप परमात्मा के ऊपर उत्पन्न करती हूँ समुद्र (सम्पूर्ण भूतो के उत्पत्ति स्थान परमात्मा) में तथा जल (बुद्धि की व्यापक वृत्तियों) में मेरे कारण (कारण स्वरूप चैतन्य ब्रह्म) की स्थिति है; अतएव मैं समस्त भुवन में व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलोक का भी अपने शरीर से स्पर्श करती हूँ। मैं कारण रूप से जब समस्त विश्व की रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरों की प्रेरणा के बिना स्वयं ही वायु की भाँति चलती हूँ, स्वेच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथिवी और आकाश दोनों से परे हूँ। अपनी महिमा से ही मैं ऐसी हुई हूँ।[1] श्री सायण ने स्पष्ट लिखा है कि 'अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता

---

१. अहं सुवे···द्यौः पितेति श्रुतेः। पितरं दिवं अहं सुवे प्रसुवे जनयामि। आत्मनः आकाशः संभूत इति श्रुतेः। अस्य परमात्मनः मूर्धनि उपरिकारण भूते तस्मिन्हि वियदादि कार्यं जातं सर्वं वर्तते। तन्तुपु पट इव मम च योनिः कारणं समुद्रे समुद्रवन्त्यस्माद् भूत जातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन् अप्सु व्यापन शीलासु धी वृत्तिषु अन्तर्मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः। यतईदृग्भूताहमस्मि ततो हेतो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अनुप्रविश्य तिष्ठे विविधं व्याप्य तिष्ठामि। अमूं द्यां विप्रकृष्ट देशेऽवस्थितं स्वर्गलोकमुपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारण भूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उपस्पृशभीमयद्वा अस्य भूलोकस्य मूर्धन्युपरि अहं पितरमाकाशं सुवे समुद्रे जलधौ अप्सु अन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतो अम्भृणाख्य ऋषिः वर्तते। यद्वा समुद्रे अन्तरिक्षे अप्सु अंभयेपु देव शरीरेषु मम कारणं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि यथा वातः परेण अप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति परो दिवा पर इति —दुर्गा सप्तशती—गुप्तवती टीका

वाङ्नाम्नी ब्रह्म विदुषी स्वात्मानमस्तौत ।' अर्थात् इस सूक्त में अम्भृण नामक महर्षि की ब्रह्मविदुषी पुत्री की, जिसका नाम वाक् था, अपने सम्बन्ध में स्तुति है । वागाम्भृणी पद इस सूक्त में कहीं नहीं है । अतः श्री सायण की कल्पना भी आधारहीन है । अब आचार्य जी द्वारा किया गया अर्थ देखिए— '(अहं) मैं (पितरम्) प्रजाओं के पालक राजा रूप पिता को (अस्य) इस राष्ट्र में (मूर्धन्) मस्तक पर (सुवे) प्रेरित करती हूँ । (मम) मेरा (योनिः) उत्पत्ति कारण (समुद्रे) राष्ट्र समुद्र में (अप्सु-अन्तः—मनुष्यावा आपः शतपथ ७/१/१/२) प्रजाओं के भीतर है (ततः) इस हेतु से (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों (भुवनानि भूतजातानीति सायणः) अर्थात् उत्पन्न प्राणियों पर (वितिष्ठे) मैं विविध प्रकार से बैठती हूँ—शासन करती हूं (उत) और (वर्ष्मणा) अपने प्रभाव शरीर से (द्यां) द्यौ को भी (उपस्पृशामि) स्पर्श करती हूँ । मैं ही सब प्रकार के (भुवनानि) उत्पन्न होने वाले कार्यों को (आरभमाणा) आरम्भ करती हुई (वातः) वायु की तरह (प्रवामि) दौड़ती फिरती हूँ (महिना) अपनी महिमा से (एतावती) इतनी (संवभूव) हो गई हूँ कि (दिवा) द्यौ से भी परे और पृथ्वी से भी परे, मैं अपना प्रभाव रखती हूँ ।

अर्थात् प्रजापालक राजा राष्ट्र के मूर्धा पर बैठकर सब प्रकार के राज्य कर्म करने में क्यों समर्थ होता है ? इसलिए कि उसे राष्ट्र सभा से सब प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं । यदि राष्ट्रसभा उसे प्रेरणा प्रदान न करे और उसकी सहायता न करे तो राजा भी—राष्ट्र का मूर्धन्य राजा भी—कुछ नहीं कर सकता । यह राष्ट्रसभा कोई साधारण चीज नहीं है । राष्ट्रसमुद्र में रहने वाली प्रजाएँ इसका कारण हैं—उन्होंने इसे उत्पन्न किया है । इसलिए इसमें सारी प्रजा का बल निहित है । यह प्रजा की—जिस प्रजा को पीछे राजा का भी योनि, कारण कह आए हैं, उस प्रजा की—सभा है, इसी हेतु से यह राष्ट्र के सब प्राणियों पर शासन करती है न सिर्फ राष्ट्र में रहने वाले प्राणियों पर इसका शासन है प्रत्युत इसके निर्णयों का प्रभाव आकाश में विचरने वाले पक्षियों और विमानों तक पर होता है । राष्ट्र में होने वाले सब कार्य राष्ट्र-सभा की आज्ञा से ही होते हैं, इसलिए कह दिया गया है कि राष्ट्रसभा ही सब प्रकार के कार्यों को कर रही है और क्योंकि राष्ट्र सभा की आज्ञाओं और निर्णयों का प्रभाव राष्ट्र के दूर से दूर के प्रदेशों में भी तत्क्षण होता है इसलिए अलंकार से कहा कि मानो वह वायु की तरह दौड़ती फिरती है । उसकी महिमा इतनी है कि वह अपने राष्ट्र के आकाश और पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों पर तो नियंत्रण रखती ही है—जैसा कि पिछले दोनों मन्त्रों में कहा गया है—परन्तु कितनी ही बार उसके निर्णयों का प्रभाव अपनी भूमि और आकाश से परे दूसरे राष्ट्रों की भूमि और आकाश पर भी पड़ता

है[१]। पाठक देखें, आचार्य जी का अर्थ कितना सामाजिक और उपयोगी है।

एक बात और। वेदों में स्थान-स्थान पर देवों को एक रूप में वर्णित किया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का प्रथम सूक्त देखा जा सकता है। इस सूक्त का देवता अग्नि है। इसमें अग्नि को 'नृपति' अर्थात् राजा कहकर उसे इन्द्र, विष्णु वृह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, त्वष्टा, रुद्र, मरुत्, पूषा, सविता और ऋभु आदि नामों से अभिहित किया गया है। ये नाम वेद के विभिन्न देवताओं के नाम हैं। इसी प्रकार इन्द्र के सूक्तों में भी उसे सूर्य, रुद्र, ऋभु, सोम, विष्णु, अग्नि, सविता, वृहस्पति, मित्र त्वष्टा, वरुण और विश्वकर्मा आदि अन्य विभिन्न देवताओं के नामों से भी सम्बोधित किया गया है। तात्पर्य यह कि देवों के नाम अपनी विशेषताओं से अलग-अलग संकेत भी करते हैं तथा प्रत्येक देव प्रजापति या एक केन्द्रीय देव का सहकारी होकर भी सामने आता है। देवमाला या राजकीय मंत्रिमण्डल की रूपरेखा इसी आधार पर लेखक ने प्रस्तुत की हैं। इन्द्र को वह सम्राट् मानते हैं जो निर्वाचित शासनाध्यक्ष है। उसकी सहायता के लिए तथा उस पर नियंत्रण रखने के लिए सभा और समिति हैं। सहायता के लिए मंत्रियों की भी आवश्यकता होती है। राज्य संचालन के दुष्कर कार्य में सम्राट् को सहायता देने के लिए उसके सहायक या मंत्री भी होने चाहिएँ। इस सम्बन्ध में भी वेद से पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। वेद की इन्द्र, अग्नि, वरुण, विष्णु, मित्र, अश्विनौ, पूषा, बृहस्पति, सोम, त्वष्टा और रुद्र आदि देवताओं की देवमाला पर बारीकी से दृष्टिपात करने पर वेद स्पष्ट रूप में इस प्रकार के निर्देश देता हुआ प्रतीत होता है। इस देवमाला को ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि इसमें से इन्द्र तो सम्राट् है और अग्नि, वरुण, सोम आदि उसके सहकारी विभागाध्यक्ष या मंत्री हैं।[२] तात्पर्य यह कि आचार्य जी ने समग्र देवमाला का अधिराष्ट्रपरक अर्थ करते हुए देवताओं को असंदिग्ध रूप से राजपुरुषों का प्रतीक बताया है।

इन्द्र को वह सम्राट् मानते हैं, मंत्र संख्या की दृष्टि से भी वह वेद में प्रधान है। १४ बार उसके लिए वेद में सम्राट् शब्द आया भी है। '**इन्द्र ज्येष्ठां उशतो यक्षि देवान्**' अथवा '**इन्द्रज्येष्ठा सो अमृता ऋतावृधः देवाः**' के आधार पर भी वह ज्येष्ठ या सम्राट् है। अथर्व में 'देवानामधिराजः' कहकर या '**अधिराजो राजसु राजपातै**' कह कर उसके शासनाधिपतित्व को स्वीकार किया गया है। ऋक् में '**एकराड़स्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र**' कह कर उसे राष्ट्ररूप जगत् का एकमात्र राजा या एकराट् बताया गया है। ऐसी स्थिति में इन्द्र को अधिराज तथा अग्नि, विष्णु, मरुत, रुद्र तथा ऋभु आदि को

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त खण्ड १—पृष्ठ २२७

२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त खण्ड १ पृष्ठ २६९

'इन्द्रवन्तः' अर्थात् इन्द्र के अधीनस्थ रह कर कार्य करने वाले बताया गया है। इस सम्बन्ध में इन्द्र शब्द की निरुक्ति की संगति भी बैठती है। इन्द्र शब्द 'इदि' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है परमैश्वर्यवान् होना। राष्ट्र का सर्वोच्च प्रशासक होने के नाते उसके ऐश्वर्य-सम्पन्न होने का कोई ठिकाना नहीं।

अग्नि दूत विभाग का मंत्री है। वेद में 'अग्नेयासि दूत्यम्', 'महि दूत्यं चरन्' जैसे १४ प्रयोग उसके लिए दूत शब्द का प्रयोग विहित मानते हैं। अग्नि के दो विशेषण 'हव्य वाहन' और 'हव्यवाट्' भी इसी अर्थ का समर्थन करते हैं। हव्य का अर्थ है संदेशवचन—'हूयते, शब्दयते उच्चार्यते अथवा आकार्यते इति हव्यम्'। संदेश-वचन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाला है। हव्यवाट्। 'हव्यवाहन की एक व्याख्या यह है कि इन्द्र अग्नि के द्वारा जहाँ अपने संदेश दूसरे राजाओं के पास पहुँचाता है वहाँ इन्द्र राज्य के सब देवों, अधिकारियों और कर्मचारियों को हव्य अर्थात् खाद्य सामग्री पहुंचाने की व्यवस्था करता है। ऋक् में '**देवासस्त्वा वरुणो मित्रो आर्यमा स दूतं प्रत्नमिन्धते**,' कह कर अग्नि के दूतत्व धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। वेद में अग्नि को १२ वार होता कहा गया है। यास्क ने इसका अर्थ ह्वाता या बुलाने वाला किया है। वह प्रजाओं या विशों का भी दूत कार्य करता है—अग्ने दूतो विशामसि—। आचार्य जी ने ऋक्, यजुष्, अथर्व के ३१ मंत्र देकर दूत के व्यक्तिगत गुणों, योग्यता तथा कार्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अग्नि का दूत रूप में वर्णन करके और दूत के गुणों और कार्यों पर प्रकाश डालकर वेद ने यह उपदेश दिया है कि सम्राट् को अपने राज्य में दूत विभाग भी रखना चाहिए तथा अजिर (शारीरिक दृष्टि से सबल तथा गतिशील) चिकित्वान् (सब कुछ जानने समझने वाला) रंसुजिह्व (मधुरभाषी) तथा सुदक्ष दूत को नियुक्त करना चाहिए। ऋग्वेद (१०/१६५) तथा अथर्व (६/२७) के सूक्तों-मन्त्रों में क्रमशः ५ तथा ३ मंत्र हैं। सायण ने इनका देवता कपोत माना है। इनमें कपोत का एक विशेषण दूतं भी आया है। इस 'दूतः कपोतः' से आचार्य जी यह ध्वनि निकालते हैं कि कबूतर से दूत का—संदेश भेजने का काम भी लिया जा सकता है।

अश्विनौ को वह परिवहन मंत्री मानते हैं। वेद में अश्विनौ को 'नरौ' कहा गया है। इसका अर्थ है कि वेद में अश्विनौ का एक रूप मनुष्य का भी है। अर्थात् एक अर्थ में उन्हें मनुष्य समझकर भी अश्विनौ की व्याख्या की जा सकती है। ऋग्वेद में ही 'राजानौ' और 'नृपती' विशेषण भी इनके लिए आए हैं। 'अश्वैरश्विना वित्यौर्णवाभः' साक्ष्य से निरुक्त में अश्वों वाला होने के कारण अश्विनौ को अश्विनौ कहा जाता है। 'रथः स्वश्वः' मंत्रांश से पता चलता है कि अश्विनौ का रथ बहुत उत्तम अश्वों वाला है। अश्विनौ के रथ का वर्णन

१५५ बार आया है । सायण 'रथेष्ठा' का अर्थ रथ पर बैठने वाला अश्विनौ करते हैं, इन्द्र नहीं । ऋग्वेद में कहा गया है—

. अथो ह स्थो रथ्या ३ राथ्येभिः १/१५७।६

अर्थात् हे अश्विनौ तुम रथों के वहन में कुशल अपने अश्वों (राथ्येभिः) के कारण रथ चलाने में निपुण रथवान् (रथ्या) हो । अश्विनौ द्वारा अनाजों का परिवहन होता है । 'वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः', 'इषं जनाय वहथः शुभस्पती' तथा '**पृक्षो वहतमश्विना**' जैसे १२ मंत्रों से अनाज का, 'घृतेन नो मधुना क्षत्र-मुक्षतम्' जैसे २ मंत्रों से घृत का, 'ऊर्जंवहन्ता' जैसे ४ मंत्रों से रसों का, 'आरथेन पुरुश्चन्द्रेण यातम्' से सोने-चाँदी तथा गो पशु आदि का परिवहन (आ गोमता अश्वावाता रथेन यातम्) अश्विनौ ही करते हैं । 'नृवाहणं रथम्' तथा रुद्र-वर्तनी' मंत्रों से जनता तथा सेना के परिवहन का प्रतिपादन किया गया है । भूमि पर, समुद्र में तथा आकाश में चलने वाले रथों और विमानों के साथ बिना अश्वों के रथों की भी चर्चा की गई है । ये शायद विद्युत् से चलते थे ।[1] अश्विनौ का एक रूप चिकित्सक का भी है । उसे 'भिषजा' इसी उद्देश्य से कहा गया है । अश्विनौ के लिए द्विवचन का प्रयोग और उनके भिषजा आदि विशेषणों में भी द्विवचन का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि चिकित्सक दो प्रकार के होते हैं— (१) औषधोपचार द्वारा चिकित्सा करने वाले तथा (२) शल्य क्रिया द्वारा चिकित्सा करने वाले । अतः उन्हें चिकित्सक रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है ।

वरुण भी मानव है । जब इन्द्रवरुणौ और मित्रावरुणौ नर हैं तो वरुण भी स्वतः नर हो गया । वरुण की भी अधिराष्ट्रपरक व्याख्या हो सकती है । वरुण का एक अर्थ मनुष्य राजा भी है । वरुण के पास 'पाश' होते हैं ये अपराधियों को पकड़ने में काम आते हैं । पाश ३ प्रकार के उत्तम, मध्यम और अधम होते हैं । अपराध के स्वरूपानुसार उनकी अधिकता, न्यूनता तथा अपराधी के दण्ड स्वरूप बदलता है । वह सत्य-असत्य का निर्णय करता है । अथर्व में' राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' साक्ष्य है भी । वरुण के स्पशः (गुप्तचर) भी होते हैं । इनके कार्यों का विवरण अथर्व वेद के चतुर्थ काण्ड के सोलहवें सूक्त में मिलता है । वरुण इस आधार पर अपराधों के अन्वेषण तथा पुलिस विभाग के अधिकारी के रूप में चित्रित मिलते हैं । 'निर्ऋति' का मौलिक अर्थ भी इस प्रसंग में आचार्य जी ने किया है । सायण आदि भाष्यकारों ने निर्ऋति का अर्थ दुःख, यम, कष्ट, पाप किए हैं । आचार्य जी ऋग्वेद (७/१०४) तथा अथर्व (८/४) के आधार पर निर्ऋति का अर्थ कारागार करते हैं । शतपथ में कहा गया है कि घोरा वै निर्ऋतिः (७/२/१/११) तथा कृष्णा वै निर्ऋतिः

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त खण्ड १—पृष्ठ ३१९,२०,२१

(७/२/१/७) अर्थात् निर्ऋति घोर है और कृष्णा है। कारागार ऐसी ही होती है। निरुक्ति की दृष्टि से भी यही अर्थ ठीक है—'निर्गता ऋतिर्यस्याः सा निऋतिः, जिसमें प्रविष्ट होकर फिर अपराधी बाहर न निकल सके। अथर्व में 'यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्व विमोक्यं यत्' कहकर कारागार तथा बेड़ी बन्धन की बात कही भी गयी है।

सोम न्याय विभाग का मंत्री तथा न्यायाधीश है। उसका 'विश्वचर्षणी' विशेषण उसकी समझदारी तथा न्यायप्रियता को घोषित कराता है। 'सत्य शुष्मः'। तथा 'सत्यकर्मा' विशेषणों से पता चलता है कि वह सत्य का रक्षक है। 'सत्पति' कहने मे पता चलता है कि वह सज्जनों की रक्षा करता है। सोम पवमान है वह न्याय व्यवस्था से अपराधियों को दण्डित करके पाप और अपराध के मार्ग से हटाकर उन्हें पवित्र कर देता है। वह अभिषव है अर्थात् अपराधियों को दण्डित कर तथा प्रजाजनों को निरापद् और निर्भय बनाकर उन्हें सुख-शान्ति की धाराओं में स्नान करा देता है।

रुद्र प्रतिरक्षा मंत्री और सेनापति है। मरुत् सैनिक हैं। सैनिक लोग स्कन्धावार अथवा छावनियों में रहते हैं। अतः उन्हें गणों में कहा गया है। वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त के तृतीय खण्ड में लगभग २४० पृष्ठों में प्रतिरक्षा विभाग पर सविस्तार विचार किया गया है। इसमें सेनापति, सैनिकों के गुणों, सैनिक के भोजन, शील, सैनिकसभा, औषधालय, सेना का गठन, व्यूहरचना, स्थल, जल तथा वायु सेना, शस्त्रास्त्र, रणनीति, राष्ट्रीयध्वज, राजसभा, तथा युद्ध के उद्देश्य पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। चौबीसवाँ अध्याय महत्वपूर्ण है। जिसमें यजुर्वेद के रुद्राध्याय पर सेना और सेनापति के संन्दर्भ से नई व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। लगभग ३८ रुद्र के नामों की जैसे अपापकाशिनीतनूः, प्रतिसर्याय, शिपिविष्टाय, तक्षभ्यः, रथकारेभ्यः—की व्याख्या करते हुए लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि रुद्राध्याय में रुद्र के ये जो नाम और वर्णन आए हैं, इनमें से अधिकांश रुद्र के महादेव अर्थ में संगत नहीं हो सकते। यदि कथंचित् इन नामों और वर्णनों को महादेव में संगत करने का प्रयत्न भी किया जाये तो फिर वह महादेव पुराणों का महादेव नहीं रहता। वह अद्वैतवादियों का ब्रह्म हो जाता है और फिर इस प्रकार के अर्थ में न कोई चमत्कार ही रहता है और न ही उसमें कोई मनुष्यों के व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा और अभिप्राय ही निकलता है। रुद्र का सेनापति अर्थ करने पर अध्यायों के सारे वर्णन उसमें बड़े सुन्दर संगत हो जाते हैं और उनसे राजनीति की बड़ी उत्कृष्ट शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं।[1]

प्रतिरक्षा विभाग की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त तृतीय खण्ड—पृष्ठ २४०

कि युद्ध केवल आत्मरक्षा के लिए ही किया जा सकता है, विजेता को पराजित शत्रु के राष्ट्र पर आधिपत्य नहीं करना चाहिए। इसकी पुष्टि में २६ अथर्ववेद के मंत्र, ८ यजुर्वेद के मंत्र तथा ४ ऋग्वेद के मन्त्र उद्धृत किए गए हैं। यहाँ इन्द्र और अग्नि के लिए प्रयुक्त अजिराधराजौ शब्द पर विचार करते हुए आचार्य जी ने सायण द्वारा कल्पित मृत्यु के अजिर तथा अधिराज संज्ञक दूतों की कल्पना का खण्डन किया है। इसी प्रकार 'मस्मसा' ध्वन्यर्थक शब्द का शत्रु को मसल देना अर्थ भी उनका मौलिक तथा संगत है। अथर्व का **'तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत,,** (११,९,२६) मंत्र उद्धृत कर उन्होंने इस बात का समर्थन किया है कि विजेता को विजित राष्ट्र पर आधिपत्य नहीं जमाना चाहिए। मरुतों के बारे में उनकी धारणा है कि मरुत् देव विशेष नहीं मनुष्य हैं। ऋग्वेद के ३४ स्थल उद्धृत करते हुए उन्होंने बताया है कि मरुत् नर हैं। जैसे नरः सत्यशवसः, यच्छुभं याथना नरः, नरो दिवश्च घूतयः। इमं नरो मरुतः सश्चता वृधम्। फिर मरुत् अमर नहीं वे मरणधर्मा हैं। 'मर्या इव सुवृधः' कहने का अभिप्राय यही है। 'मारुतेनागणेन' या 'मारुता गणाः' अथवा 'मारुतं गणम्' कहने का अर्थ है कि मरुत् या सैनिक समूह या टुकड़ियों में रहते हैं। वेद मरुतों को 'सनीलाः' कहता है, सायण सनीलाः का अर्थ समानस्थानाः करते हैं। सनीला का अर्थ है एक घर में रहने वाले अर्थात् सनील का अर्थ बैरक में रहने वाले किया जा सकता है। मरुतामनीकम् कहने से मरुतों की पंक्तिबद्ध सेना का दृश्य भी हमारे सामने आ जाता है। 'मानुष प्रधनाः, जैसे प्रयोग इनके मनुष्यों से किए गए युद्ध की ओर संकेत कर इनके मानव होने की संभावना व्यक्त करते हैं।

युद्धोपकरणों से सुसज्जित रुद्र के लिए ऋग्वेद से ७, यजुर्वेद से २३, अथर्व से ५ मंत्र उद्धृत किए गए हैं। इनका तात्पर्य रुद्र को सेनापति बताना है। कृत्तिवासाः का अर्थ है चमड़े का अंगुलित्राण आदि पहनने वाला। कपर्दी नाम भी उसके उसी वीर रूप का संकेत कराता है। इस रुद्र की (सेनापति की) श्री को मरुत् (सैनिक) बढ़ाते हैं—'तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र। रुद्र के गण और अनीक हैं। इसलिए उसे गणपति, व्रातपति और वरूथी कहा गया है। उसे ऋग्वेद में अन्यं ते असम्मन्नि वपन्तु सेनाः, अथर्व में नगस्ते देव सेनाभ्यः तथा यजुर्वेद में 'हिरण्य बाहवे सेनान्ये' कहकर सेनाओं का पति या सेनापति बताया गया है। सेनापति से अपने सैनिकों के साथ पिता-पुत्र जैसा व्यवहार रखना चाहिए। इसके लिए रुद्र को पिता तथा इष्मी कहा गया है।

सैनिक मातृभूमि के भक्त होने चाहिएँ। 'गोमातरः' का अर्थ पृथिवी को, मातृभूमि को माता समझने वाला किया जाना संगत है। मरुतों के लिए प्रयुक्त युवानः शब्द से ध्वनि निकलती है कि युवा पुरुषों को ही सेना में प्रविष्ट करना चाहिए। आचार्य जी ने उग्राः, स्वभानवः, सुक्षत्रासः जैसे ८७ विशेषणों का अर्थ

देते हुए बताया कि वेद की दृष्टि में कैसे गुणों वाले पुरुष को सेना में भरती कराया जाना चाहिए। सैनिकों के लिए विप्राः, निचेतारः तथा सुश्रवस्तमान् विशेषण इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि सैनिक बनने वाले व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त हों। जो नारी शूर हों वे भी वृषभगा, अंहयुः तथा स्थिरा होने से सैनिकों के संग (सचा) युद्धभूमि में रह सकती हैं। सैनिक समान आयु के होने चाहिएँ। सवयसः विशेषण का यही भाव है। प्रतिवर्ष नये सैनिकों की भरती हो—कहा भी है—'**गणं मारुतं नव्यसीनाम्**।' 'क्रीलथमरुतः' से अर्थ लेना चाहिए कि सैनिकों के लिए खेलने का प्रबन्ध होना चाहिए। २६ मंत्र उद्धृत कर सैनिकों के भोजन पर विचार किया गया है। सैनिकों की सभा या क्लब के समर्थन में 'मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची' मंत्र उद्धृत किया गया है। २० मंत्र उद्धृत कर युद्ध विभाग के औषध या चिकित्सा विभाग का विवरण दिया गया है। रुद्रजलाषभेषज तथा त्वं भेषजा रास्यस्मे जैसे मंत्रों का यही अर्थ है। सेना के गणों के सम्बन्ध में दशमलव पद्धति अपनाई गई है। मरुतों के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त 'दशग्वाः' का अर्थ दस दस की संख्या में चलने वाला किया गया है। मनु ने तो इसी से प्रेरणा लेकर ग्रामों को संघटित करने के लिए यही पद्धति अपनाई है। ग्राम, दसग्राम, सौ ग्राम तथा सहस्र ग्रामों के संघटन होने चाहिएँ। मनु का यही मत है। दशग्रामपति, शतग्रामाधिपति तथा सहस्र ग्रामाधिपति की व्यवस्था उन्होंने की है। सेना में भी आचार्य प्रियव्रत दूसरा बड़ा गण सौ, तीसरा सहस्र और चतुर्थ दस सहस्र का मानते हैं। मरुतों को शतिनः कहना इसीलिए संगत है, मरुतों को **सहस्रियासो अपां नोर्मयः** कहना तथा इन्द्र को **तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान** कहना इसी भाव की पुष्टि करता है। सेनाओं को पंक्तिबद्ध होकर चलना चाहिए। धारावराः तथा वयो न श्रेणीः पप्तु का अर्थ यही है। इसी संदर्भ में प्रयुक्त 'सुसन्दृक् ते स्वनीक प्रतीकम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य जी ने कहा है कि हम एक सेना को देख रहे हों और उसके सैनिक भी हमारी ओर मुँह करके पंक्तिबद्ध खड़े हों तो उसके सैनिकों की जो पंक्तियाँ हमारी छाती के समानान्तर एक के पीछे दूसरी इस प्रकार बनेंगी उन्हें अनीक कहा जायेगा तथा जो पंक्तियाँ हमारी छाती पर लम्ब बनाती हुई एक दूसरी के साथ-साथ खड़ी दीखेंगी उन्हें प्रतीक कहेंगे।[1]

सेनाओं के प्रशिक्षण, मार्गशोधक सेना, कुत्तों की सहायता, रथारोही सेना-जलसेना, वायुसेना पर मन्त्रों सहित प्रकाश डाल कर लेखक ने आधुनिक जानकारी दी है। मद्गु का अर्थ वह जलचर पक्षी न करके पनडुब्बी करते हैं तथा प्राचीन भारत में पनडुब्बी की स्थिति स्वीकारते हैं। दशकुमार चरित की पद चन्द्रिका, भूषणा तथा लघुदीपिका टीका के हवाले से 'मद्गुः पोतविशेषः'

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड ३—पृष्ठ ११४।

अर्थ कर वह अपनी बात पुष्ट करते हैं। वायु सेना के लिए ऋग्वेद के २६ तथा अथर्व के ४ मन्त्र उन्होंने उद्धृत किए हैं। शस्त्रास्त्र पर प्राचीन तथा आधुनिक दृष्टि से विचार करते हुए बाण, इषुधि, धनुष, असि, वाशी, परशु, ऋष्टि, वज्र तथा आधुनिक आग्नेयास्त्रों की चर्चा भी उन्होंने की है। पूतिकास्त्र, संमोहनास्त्र की नई व्याख्या की है। युद्धवाद्य, रणनीति तथा सेना-व्यूह पर भी विचार किया है। आखुस्ते पशुः का अर्थ खन्दक खोदने वाला तथा उसमें युद्ध के समय छिपने वाला किया है। शत्रु का कोश, रसद, शस्त्रास्त्र तथा युद्ध के ठिकानों को नष्ट करने की नीति का मन्त्र देकर समर्थन किया गया है। युद्ध-प्रचार के लिए पुरोहितों की स्थापना पर बल दिया गया है और फिर स्थल, जल तथा वायु सेनाओं का मेल रखने वाले सेनापति की सेना के ध्वज का विवरण दिया गया है। अथर्व के **'एता देवसेनाः सूर्य केतवः सचेतसः'** तथा **'त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः'** मन्त्र देखकर सूर्य चिह्नांकित अरुण रंग के वेदकालीन ध्वज का संकेत कराया गया है।

रुद्र की वहन अम्बिका पर लेखक ने सर्वथा मौलिक दृष्टि डाली है। अम्बिका को अवि धातु से निष्पन्न शब्द मान कर लोरी गाने वाली माँ अर्थ किया गया है। माता जैसे बच्चों को लोरियाँ देकर उनका दिल बहलाव करके उन्हें सुख में सुला देती हैं, सेनाओं में उसी प्रकार का काम करने वाला विभाग अम्बिका कहलायेगा। आहत सैनिकों की शुश्रूषा आदि इसी विभाग के अन्तर्गत आते हैं। इस विभाग में कार्यरत परिचारिकाएँ आधुनिक नर्सों की तरह वहन या स्वसा के रूप में आदर पायेंगी। अम्बिका को रुद्र की स्वसा कहने में यही ध्वनि है। जो पाठक विशेष रूप से रुद्राध्याय का अर्थ समझना चाहते हों वे इस प्रकरण को अवश्य पढ़ें, उन्हें पद-पद पर आचार्य जी के द्वारा उद्भावित नवीन अर्थ देखकर वेद की उपयोगिता पर विश्वास बढ़ेगा। सुसंगत और प्रमाणपुष्ट ऐसी अधिराष्ट्रपरक व्याख्या उनसे पूर्व किसी आचार्य ने नहीं की।

प्रथम खण्ड में त्वष्टा को शिल्पकला तथा उद्योग-धंधों का मन्त्री बताया गया है। बृहस्पति को मन्त्रि पुरोहित तथा पूषा को अर्थमन्त्री कहा गया है। खान, पशु, कृषि, वस्त्रव्यवसाय, विमान, नौका तथा कराधान से इसकी आय बताई गई है। कराधान और कर-संग्रह में वह चौकस रहता है, वह अपनी बहिन तक को भी कर से मुक्त नहीं करता। ऋग्वेद के 'स्वसुर्जारः' का अर्थ यही विहित भी है। सविता को विधिमन्त्री, सूर्य को शिक्षामंत्री तथा विष्णु को प्रधानमंत्री बताया गया है। इन्द्र यदि राष्ट्रपति है तो विष्णु प्रधानमंत्री 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' का तात्पर्य यही है। उरुगाय का अर्थ राष्ट्र के सभी विभागों में विष्णु या प्रधानमन्त्री की पहुँच है। वह उरुक्रम इसलिए है कि राष्ट्र के बहुत अधिक विभागों के कार्यों पर उसकी दृष्टि रहती है और वह उनकी देखभाल करता है। शिपिविष्ट का अर्थ है कि वह जहाँ राष्ट्र के मनुष्यों

की सुख समृद्धि की चिन्ता रखता है वहाँ वह उसके पशुओं की सुख समृद्धि की भी चिन्ता रखता है। 'आदित्यै विष्णु पत्न्यै' का अर्थ है कि वह अदिति या भूमि का स्वामी है। निघण्टु में 'अदितिः पृथिवी नाम' पठित भी है। अपने राष्ट्र और मातृभूमि की रक्षा और पालन-पोषण करने के कारण वह अदिति का पति है। विष्णु की व्याख्या है—जो विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों में व्याप्त हो—'वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं राष्ट्रसम्बन्धि–प्रशासनिक कार्यजातमिति विष्णुः।' अर्यमा न्याय-विभाग का मन्त्री है तथा दीवानी का न्यायाधीश है। वह विवाहों का पंजीकरण करता है—अथर्व में **'अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पति वेदनम्'** का तात्पर्य यही है। भग कृषि विभाग तथा जनकल्याण का मन्त्री है। यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों के इस आशय का कि भग देव अन्धे हैं, खण्डन किया गया है। गोपथ, कौशीतकी तथा शतपथ में भग को अंधा बताया गया है। निघण्टु के 'भग इति धननाम'—कथन से सम्पत्ति का स्वामी बताकर लेखक ने उसे उत्तम प्रबन्ध व्यवस्थापक कहा है। सरस्वती को स्त्री-शिक्षा विभाग की मन्त्री, पर्वत को सुरक्षा विभाग का मन्त्री, वायु को वायु-प्रदूषण निराकरण विभाग का मन्त्री बताकर वन-सम्पदा रक्षा तथा प्रदूषण की आधुनिक समस्या पर लेखक ने वेद का मन्तव्य सुझाया है। कुत्स को सतर्कता विभाग का मन्त्री बता कर लेखक ने सायणाचार्य की विसंगतियों पर प्रकाश डाला है। कुत्स न तो गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि है और न वह अर्जुन (इन्द्र) का पुत्र है। आर्जुनेय विशेषण की अधिराष्ट्र अर्थ में संगति लगाने पर पवित्र तथा शुभ्र अर्थ किया है। लेखक ने सप्रमाण बताया है कि इन्द्र और कुत्स के युद्ध की कहानी सायण द्वारा कल्पित और निरर्थक है। कुत्स शब्द संस्कृत की कुत्स धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है दोष दिखाना। भ्रष्टाचार के ऊपर आँख जमाकर उसका भंडाफोड़ करने वाला व्यक्ति कुत्स है। इस प्रकार यह देवमाला उचित शासन-व्यवस्था की कड़ी के रूप में ही हमारे सामने आती है।

लेखक राजा का चुनाव जनता द्वारा मतपत्र के आधार पर मानते हैं। अथर्व के (३/५-६-७) पर्णमणि सूक्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने पर्णमणि का अर्थ मतपत्र किया है। फिर चुनाव की प्रक्रिया पर विचार किया गया है।[1] राजा के गुणों का वर्णन, वहुमत से राजा का चुनाव, राज्यच्युति, राजा के दैवी सिद्धान्त का विरोध तथा स्वेच्छाचारी एकतंत्र का दोष लेखक ने बड़े विस्तार के साथ दिखाया है।[2] वेद स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राजत्व का सैद्धान्तिक विरोध करता है यकासकौ शकुन्तिका तथा यद्धरिणो यवमत्ति (यजुर्वेद २३/२२-३०) मन्त्रों के उव्वट-महीधर सम्मत अश्लील अर्थों को छोड़कर लेखक

---

१. राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड १—पृष्ठ १५६-१६३।

२. राजनीतिक सिद्धान्त खण्ड १—पृष्ठ १६८।

ने उक्त मत के समर्थन में नये अर्थ किए हैं। वाक् स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा की गई है।

सारांश यह कि वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त के प्रथम खण्ड में लगभग ६५६ पृष्ठों में लेखक ने राज्य संस्था का विकास— गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि की राज्यविहीन अवस्थापरक व्याख्या, राष्ट्रीयता, राज्यकाल, चुनाव का अधिकार, संघीय राज्यप्रणाली, पाँचवा जन, राज्याभिषेक, राज्य तथा न्यायव्यवस्था और उदार राजनीति पर प्रकाश डाला है। प्रजाजन और नेताओं के गुणों पर विचार किया गया है। राज्यों के उत्थान-पतन की परिस्थितियाँ बताकर राष्ट्रीय व्यवस्था की ओर इशारा किया गया है। इस प्रकार पहली बार राज्यसंस्था और उसके अंग-उपांगों का वेदमन्त्रों के सन्दर्भ से मौलिक विवेचन किया गया है। राजनीतिशास्त्र के अध्येताओं को इस खण्ड का विधिवत् अध्ययन करना चाहिये।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में २६ अध्याय हैं। जैसे प्रथम खण्ड में संविधान काण्ड तथा तृतीय में प्रतिरक्षा काण्ड का विवेचन हुआ है, उसी प्रकार द्वितीय काण्ड का नाम लेखक ने अभ्युदय काण्ड रखकर उसमें राज्य-कल्याण की योजनाओं पर विचार किया है। स्त्रियों को मताधिकार का समर्थन, राजस्व का निर्णय, भूमि की नाप-जोख, कृषि, सिंचाई, अभयारण्य, गो-पालन, अश्व-पालन, पशु-संवर्धन, पुल, व्यापार, शिल्प, उद्योग-धन्धे, गृह-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, स्वास्थ्य-विभाग, शिक्षा, विवाह, जनसंख्या, पशुसंख्या की गणना तथा राज्य और समाज का संघटन तथा उसकी अर्थव्यवस्था पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है।

भूमि की नाप-खोज की व्यवस्था वैदिककाल में भी थी। अथर्व (१३/१/२७) के **'विमिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा'** मन्त्र में पयस्वती, घृताची तथा पृषती विशेषण वाली पृथ्वी की नाप-जोख का (मिमीष्व) समर्थन लेखक ने निघण्टु के आधार पर किया है। पयस्वती का अर्थ है अन्न-वाली 'घृताची का अर्थ है सजला तथा पृषती का अर्थ है सेचनशीला। विमिमीष्व पद की ध्वनि है कि राज्य की सारी भूमि अच्छी तरह नपी हुई हो। उसके विभिन्न स्थानों के क्षेत्रफल, लम्बाई-चौड़ाई, गहराई-ऊँचाई, नदी-नालों, पहाड़ों-जंगलों का राज्य के पास पूरा विवरण रहना चाहिए। परवर्ती काल में हल्य, सीत्य जैसे विभाग मिलते भी हैं। काशिका में हलस्य कर्षः अर्थात् एक हल की जोत के लिए भूमि माप मिलती है। फिर द्विहल्य तथा त्रिहल्य, द्विकाण्ड, त्रिकाण्ड जैसे नापों का उल्लेख हुआ है। पाणिनि ने **काण्डान्तात् क्षेत्रे** सूत्र में क्षेत्रफल की माप बताने वाले शब्दों की ओर संकेत किया है।

राज्य कृषि के प्रसार और विकास में प्रयत्नशील रहे, इसकी ओर वेद ने संकेत किया है। ऋग्वेद के १८ मंत्रांश उद्धृत कर कृषि की उन्नति का समर्थन

किया गया है। ऋभुओं को कृषि की उपज कई गुणा करने वाले विशेषज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है। 'एकं चमसं चतुरः कृणोतन' में चमस का अर्थ चार गुणा अन्न किया गया है। 'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु' का अर्थ है कि इन्द्र (सम्राट्) सीता का निग्रह रखे। सीता पर निग्रह रखने का भाव कृषि योग्य-भूमि का नियन्त्रण है। सीता शब्द ऋग्वेद और उत्तरकालीन संहिताओं में हल की खूंड या फाड़ के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र में 'सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च' कहकर इसी अर्थ की रक्षा की गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०१ वें सूक्त के ३-६ मन्त्रों में कृषि का सुन्दर वर्णन हुआ है। दो मन्त्र लीजिए—

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजाम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात् ।
निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन ।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ।

अर्थात् हे मनुष्यों हल जोड़ो, उनमें बैल जोतने के लिए जूए फैलाओ, हल चलाकर भूमि को अच्छी तरह बीज के लिए उपयुक्त स्थान करके उसमें बीज बोओ, हमारे इस उपदेश से तुम्हारा अन्न खूब भरपूर हो, अनाज के पकने पर उसे काटने के लिए उसके पास काटने के औजार जावें। कुएँ में से पानी निकालने के लिए डोल, चरस आदि पात्र (आहावान्) बनाओ, उनमें रस्से (वरत्राः) बाँधो, जिनमें से पानी ऊपर निकाला जा सके, जिनसे सिंचाई सुगमता से हो सके और जिनका पानी कभी समाप्त न हो। इस प्रकार के कुएँ अथवा झील (अवंत) बनाओ और खेती को सींचों। अथर्व में कहा गया है कि कृषि के लिए हल होना चाहिए, उसमें भूमि को फाड़ने के लिए पवि अर्थात् फाल होना चाहिए। वह सुखपूर्वक चलने वाला (सुशीम) तथा मूठ वाला (सोम सत्सरु) हो।

लाङ्गलं पवीर वत्सुशीमं सोमसत्सरु। उदिद्वपतुगाम्। ३/१७/३

राष्ट्र में नहरें खुदवानी चाहिएँ। अथर्व के 'भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो' का यही अर्थ है। ऋग्वेद के १९ मन्त्र देकर नहरों की खुदाई का समर्थन किया गया है। अथर्व (३/१३) के 'यददः संप्रयतीरहावनदता हते' जैसे सात मन्त्रों के आधार पर लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि पहाड़ों में बह रही नदियों और नालों के पानी को समुचित स्थानों में रोककर और पहाड़ों को काट कर नहरें निकालें। स्थल में बह रही नदियों के पानी को रोककर नदियों के किनारों से नहरें खुदवाएँ। उत्स अर्थात् कुएं और झीलों से नहरें निकालें तथा वर्षा का कृत्रिम झीलों में पानी एकत्र कर उससे नहरें निकलवाएँ। लेखक दुराग्रही नहीं है, उसने इस स्थल पर श्री सायण के अर्थ का भरपूर समर्थन किया है। 'यददः संप्रयतीरिति सूक्तं स्वाभिमत प्रदेशे नदीप्रवाहकरणे विनियुक्तम्' कहकर

सायण ने इस सूक्त का विनियोग अपने अभिमत देश में नदी का प्रवाह ले जाने में किया है। नदी-प्रवाह का यहाँ अर्थ नहर ही अभिप्रेत है।

राष्ट्र को जंगलों, पेड़-पौधों तथा वनस्पतियों की रक्षा करनी चाहिए। ऋग्वेद के १५, यजुर्वेद का १ तथा अथर्व का १ मन्त्र देकर लेखक ने इस अभिमत की पुष्टि की है। आज वनों की अंधाधुंध कटाई को देखकर वैज्ञानिक चिन्तित हैं। वृक्षारोपण, वृक्षों के संवर्धन तथा संरक्षण के लिए सरकारें प्रयत्न-शील हैं। वेद भी 'वना सिषक्ति' 'सवना न्यृञ्जते' तथा 'सं यो वना युवते' जैसे मन्त्र जंगलों की उपयोगिता तथा संरक्षण पर बल देते हैं। पुराणों में भी प्रचेताओं के वन-विध्वंस के संकल्प को ब्रह्मा द्वारा तुड़वाने की कथा प्रकारान्तर से वनों के संरक्षण को महत्व देती प्रतीत होती है। वेद द्वारा वनों और अरण्यों के रक्षकों का सत्कार करने का विधान होने से यह स्वयं ही सिद्ध हो जाता है कि ऐसे वनपाल राष्ट्र के वनों की रक्षा के लिए रखे जाने चाहिएँ। क्योंकि वनपाल न होने की अवस्था में उनका सत्कार सम्भव ही नहीं हो सकता। वैदिक गृहस्थ के जीवन में गो-पालन का क्या स्थान है। इसका भी विशद निरूपण किया गया है। गौओं की नस्ल को उन्नत करने का विधान बताया गया है तथा सायण की इस कल्पना का साधार खण्डन किया गया है कि बैल को मार कर यज्ञ में डाल देना यज्ञ में विहित है। पशुओं की चिकित्सा की व्यवस्था का संकेत भी दिया गया है। पशुपीड़कों तथा पशुचोरों को दण्डित करने का विधान भी बताया गया है। लेखक ने उन लोगों की धारणाओं का खण्डन भी किया है जो वैदिक युग में माँस भक्षण का समर्थन करते हैं। अथर्व (८/३/१५) तथा ऋग्वेद (१०/८७/१६) के समान मन्त्र 'यः पौरुषेयेण कविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानाः' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति पुरुष, अश्व तथा अन्य किसी पशु के माँस से अपना शरीर पुष्ट करते हैं, हे सम्राट् तू उनके सिर काट डाल। इसका तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार माँस खाने वाले को प्राणदण्ड मिलना चाहिए।[1] सामान्य नागरिकों की बात छोड़िए—वेद तो सैनिकों के भोजन में माँस का निषेध कर गो-दुग्ध, दही, घृत, सोम, मधु तथा पौष्टिक अन्न का ही विधान करता है। माँस सैनिकों का भोजन नहीं है यह भ्रान्त धारणा है कि अन्य वर्णों को तो माँस नहीं खाना चाहिए पर युद्ध करने वाले क्षत्रिय के लिए यह आवश्यक है।[2] ऋग्वेद के द्रप्सिनः, ऋजीषिणः, चित्रवाजान्, तथा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते जैसे २९ मन्त्र उद्धृत कर लेखक ने इस तथ्य की पुष्टि की है। इससे इतिहासकारों की इस मान्यता का खण्डन होता है कि आर्य माँस और शाक दोनों का आहार करते

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड २—पृष्ठ १०४।
२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—खण्ड ३—पृष्ठ ८९।

थे। भेड़-वकरों का माँस खाया और देवताओं को चढ़ाया जाता था तथा त्योहारों के अवसर पर या अतिथि-स्वागत के लिए वलिष्ठ वछड़े को काटा जाता था।[1] आचार्य जी ने यजुर्वेद के १३ वें अध्याय के ४७ से लेकर ५१ तक के मन्त्रों के आधार पर पशु-वध निषेध का समर्थन किया है। यज्ञों में भी पशु-वध को वह वेद विरुद्ध मानते हैं। अथर्व के (७/५/४-५) दो मन्त्र उद्धृत कर यज्ञ के अध्वर (हिंसारहित) शव्दार्थ की सार्थकता प्रतिपादित की गई है।

प्राचीन भारत की सड़कों तथा परिवहन व्यवस्था पर भी लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। डा॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने सर्वप्रथम 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ में वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शंकुपथ, राजपथ, सिंहपथ, हंसपथ तथा देवपथ का उल्लेख किया।[2] इनमें अन्तिम दो वायुमार्ग के द्योतक थे। नौकाओं का वारिपथ कहलाता था। पहाड़ी किन्तु संकीर्ण मार्ग अजापथ तथा शंकुपथ कहलाते थे। प्रियव्रत जी ने सर्वप्रथम वेद के साक्ष्य पर ३ सड़कों का उल्लेख अथर्व के (१२/१/४७) निम्न मन्त्र के आधार पर किया है—

ये ते पन्थानो वहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं ज्येमानमित्रंमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड़।

इसमें स्पष्ट रूप से जनायनाः (मनुष्यों के चलने के लिए), रथस्यवर्त्मा (रथ तथा तीव्रगामी वाहनों के लिए) तथा अनसः यातवे (भारवाही गाड़ियाँ ढोने के लिए) तीन मार्गों का संकेत दिया गया है। नदियों को पार करने के लिए ऋग्वेद के ४ मन्त्र उद्धृत कर (नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः आदि) वारिपथ का संकेत भी दिया गया है।

अथर्व के (३/१५) वणिक् सूक्त तथा ऋग्वेद के १७ एवं अथर्व के २ मन्त्र उद्धृत कर लेखक ने व्यापार, कराधान, शिल्प तथा उद्योग-धन्धों पर भी प्रकाश डाला है। ऋभु, विभ्वा तथा वाज को उन्होंने तीन वर्गों का प्रतीक बता कर सायण की इस व्याख्या का खण्डन किया है कि ये तीनों सुधन्वा के पुत्र तथा अंगिरा के पौत्र थे। वज्री की तरह वह सुधन्वा का अर्थ सम्राट् करते हैं तथा यास्क के आधार पर ऋभुओं को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। ऋभुओं को वह तक्षण या बढ़ई कला का पण्डित मानते हैं। ऋभु लोग कठोर भूमियों के ऊपर की सख्त पपड़ी तोड़ कर रासायनिक प्रयोगों द्वारा उसे कृषि के योग्य नरम भूमि बनाकर उसमें अनाज डालते हैं तथा खेती की भूमि को उपजाऊ बनाने में सहयोग देते हैं। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद (४/३४/४) के 'एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणी गामरिणीत धीतिभिः' मन्त्र की बड़ी उपयोगी

---

१. प्राचीन भारत का इतिहास—डा॰ रमाशंकर त्रिपाठी—पृष्ठ २८
२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृष्ठ २३२

व्याख्या कर आचार्य सायण द्वारा कल्पित कथा का खण्डन किया है। ऋभु जल शुद्ध करने वाले, युद्धोपयोगी सामग्री बनाने वाले, विद्युत चालित रथों के निर्माता, विमान निर्माता विद्वान् शिल्पी के रूप में चित्रित किए गए हैं। ऋग्वेद के (४/३६/१०२) मन्त्रों के आधार पर उन्होंने विमान-प्रक्रिया का संकेत कर इस सम्बन्ध में नवीन दृष्टि डाली है।

गृह निर्माण तथा वस्त्र-परिधान की चर्चा के बिना वैदिककालीन समाज का सांस्कृतिक पक्ष पूर्णतया उजागर नहीं होता। यों परवर्ती काल में नागरिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। राजसभा, गेहगृह, निषद्या (बैठक), आगार, निकाय्य तथा एकशालिक का विवरण भी लिखा गया। घर के लिए वैदिक शब्द क्षय का प्रयोग भी पाणिनिकालीन भाषा में मिल जाता है। नगरमापन शास्त्रों का अस्तित्व भी महाभारत काल में दिखाई पड़ने लगता है। बाद में वास्तुशास्त्र पर समरांगण सूत्रधार जैसे ग्रन्थ भी लिखे गए। आचार्य जी ने वैदिक युग की शालाओं का, आदर्श घरों का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए बताया कि घर बनवाने के लिए राज्य के तद्विषयक विभाग से उसकी रूपरेखा प्रमाणित करानी पड़ती थी। अथर्व के (६/१०६) सूक्त के ३ मन्त्रों से मकान का द्वार, आँगन तथा अथर्व के (३/१२/१--२) दो मन्त्रों से उनकी प्रशस्त छतों और अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रजाजनों की मूल आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र, घर, औषधि तथा शिक्षा हैं। लेखक ने १४वें, १५वें तथा सोलहवें अध्याय में विस्तार से इनकी चर्चा की है। सूत कातने तथा वस्त्र बुनने की चर्चा की है। वस्त्र निर्माण तथा रंगकला पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार यह सारा प्रकरण वैदिक काल के सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक परिवेश का सम्यक् चित्रण कर अतीत के सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा करता है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था

वेद में मनुष्यों की सहज, स्वाभाविक रुचियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए समाज की रचना का, उसके संघटन का, अपना एक विशेष प्रकार का चित्रण कर मानव मात्र को उसके अनुसार चलने का उपदेश किया गया है। वेद में वर्णित समाज के इस संघटन को वर्णाश्रम धर्म या वर्णाश्रम व्यवस्था कहा जाता है। वेद के पुरुष सूक्त में मनुष्य समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसे चार विभागों में बाँटा गया है। इन विभागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।

ऋक्० १०/९०/१२, यजुर्वेद ३१/११

अथर्व में (१९/६/६) 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' पाठ भेद है, शेष पूर्ववत् है।

वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में उक्त प्रसिद्ध एवं प्रचलित मन्त्र के अतिरिक्त ऋक् (१/११३/६) का एक और मन्त्र **'क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै'** लेखक ने उद्धृत कर मनुष्य की ४ प्रवृत्तियाँ सहज मानी हैं। धर्म भावना और विद्या, शूरवीरता, ऐश्वर्य लालसा तथा सामान्य जीवन-यापन करना। इनमें पहली प्रवृत्ति के लोग ब्राह्मण, द्वितीय वृत्ति के क्षत्रिय, तृतीय के वैश्य तथा चतुर्थ वृत्ति के शूद्र हैं। अतः वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधृत न होकर कर्म पर आधारित है। अपने वर्ण का चुनाव व्यक्ति स्वयं करता है। ऐसे मनुष्य समाज के भी दो विभाग हैं. (१) आर्य तथा (२) दस्यु। ब्राह्मणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग विहित है यह भ्रान्त धारणा है कि दस्यु शब्द के साथ भी वर्ण का प्रयोग होना चाहिए।[1]

वैदिक प्रमाणों से सम्पुष्ट मानव समाज का नया आयाम उनकी द्वितीय पुस्तक 'समाज का कायाकल्प' में उपलब्ध होता है। इसके प्रथम अध्याय में वेद और वर्णाश्रम व्यवस्था, द्वितीय अध्याय में समाज एवं अर्थव्यवस्था, तृतीय में राज्यव्यवस्था तथा चतुर्थ में वर्णाश्रम धर्म की विशेषताओं का निरूपण हुआ है। वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में भी इन्हीं सिद्धान्तों का विवेचन है। वैचारिक दृष्टि से दोनों के निष्कर्ष समान हैं। 'समाज का काया-कल्प' ग्रन्थ की सामग्री का इस द्वितीय खण्ड में बहुत स्थानों पर निवेश भी हुआ है। मनुष्य समाज के घटकों में लेखक परस्पर वैसी और उस प्रकार के सहयोग तथा सहानुभूति की अपेक्षा स्वीकार करता है कि जैसी और जिस प्रकार के शरीर के अंगों में है। कैसी और कितनी परस्पर संवेदना चाहिए, जैसी और जितनी मनुष्य शरीर के अंगों में है। शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा होने पर मुंह से आह और आंसू स्वतः निकलने लगते हैं। यही कारण है कि स्वयं वेद भगवान् ने भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर सहयोग सहानु-भूति का सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए पुरुष शरीर से ही उपमा दी और समाज को भी पुरुष रूप में चित्रित किया। उसके मुख, बाहु, ऊरु और चरण बताकर उनका स्पष्ट वर्णन भी कर दिया।[2] अथर्व के केन सूक्त में समाज-पुरुष का सांगोपांग विवेचन मिलता है। वस्तुतः कर्म, वक्तव्य, मन्तव्य तथा गन्तव्य को ध्यान में रखकर यह रूपक बाँधा गया है। कर्म के लिए हाथ, उपदेश के लिए मुख, स्थिति के लिए उदर तथा गति के लिए चरण का उपमान रख कर इन चार अंगों के स्थानापन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कल्पना की गई है। अतः मनुष्यों की चार मुख्य वृत्तियाँ ही इन्हें समझना चाहिए। सत्ववृत्ति के लोग ब्राह्मण, रक्षावृत्ति के लोग क्षत्रिय, व्यवसाय वृत्ति के लोग

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ३४७

२. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १

वैश्य तथा इन तीनों वृत्तियों के प्रधान्य भाव से रहित लोग, सेवावृत्ति के लोग शूद्र हैं। वर्ण जन्म पर आधृत न होकर 'वरण' या चयन पर निर्भर करता है, जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण कर्मों का चुनाव अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में कर लेगा, उसका वही वर्ण हो जायेगा। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का आधार समाज की सेवा की योग्यता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नहीं।[1]

एक और प्रचलित ऐतिहासिक मान्यता का खण्डन लेखक ने किया है कि दास और दस्यु एक नहीं। वेद में आर्यवर्ण के विपरीत दस्युवर्ण का कहीं विधान नहीं। दास और दस्यु को पर्यायवाची समझना भी भूल है। दास के साथ वर्ण का प्रयोग वेद में मिलता है—यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः। ऋग्वेद २/१२/४। सायण प्रायः दास का अर्थ दस्यु करते हैं। लेखक दास का अर्थ सेवक करते हैं और अपने समर्थन में 'अरं न दासो मीढुषे कराणि। (ऋग्वेद ७/८६/७) मन्त्र उद्धृत करते हैं। इन्द्र के विशेषण के रूप में एक वाक्य 'यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवाधिपाः'—आया है इसका अर्थ है कि इन्द्र के आर्य और दास (सब जनसमुदाय) शेवाधिपा हैं, खजाने के रक्षक हैं। अतः दास का अर्थ यहाँ शूद्र या सेवक है, दस्यु नहीं। यजुर्वेद जब 'रुचं विश्येषु शूद्रेषु (१८/४८) कहता है तब भाव यह रहता है कि शूद्र प्रेम और करुणा का पात्र है, घृणा और अस्पृश्यता का नहीं। ब्राह्मण तो यजुर्वेद (३०/५) के अनुसार ब्रह्म अर्थात् वेद के अध्ययनार्थ ही निर्मित हुआ है—'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्'। ऋग्वेद के १२, अथर्व के २ तथा यजुर्वेद के १ मन्त्र को उद्धृत कर लेखक ने प्रतिपादित किया है कि उसे भाँति-भाँति की विद्याओं का पण्डित होना चाहिए। उन्हें सत्यप्रिय, तपस्वी, मेधावी, लोकहितैषी, बलिष्ठ, संयमी, अहिंसक, त्यागी—सभी सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। ऋग्वेद के 'तपुर्मूर्धा' (१०/१८२/३) के साक्ष्य से उन्हें सदैव तप निरत रहना चाहिए। 'बृहस्पते परिदीया रथेन' मन्त्र के आधार पर यह साक्ष्य भी मिलता है कि आवश्यकता होने पर वे शस्त्र भी उठा सकते हैं।[2] राष्ट्र-रक्षा क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। ऋक् तथा अथर्व दोनों कहते हैं—'तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य'। क्षत्रिय धृतव्रत, ज्ञानी, बलशाली, तेजस्वी, निर्भय, योद्धा तथा यज्ञ-यज्ञादि के पालक होने चाहिएँ। वैश्य अन्न, पशु, धन के उत्पादक तथा रक्षक होने चाहिएँ। वे औशिज हों अर्थात् नित्य नये अनुसन्धान से व्यवसाय को उन्नत करने वाले हों, कक्षीवान् हों अर्थात् कर्मनिष्ठ तथा दक्षहस्त हों। शूद्र ऊँच-नीच की ग्रन्थि से मुक्त बुद्धि अनपेक्ष शारीरिक श्रम करने वाले हों। सेवा और तप उसके जीवन का भी आधार है। कर्त्तव्यपरायणता के लिए 'तपसे शूद्रम्' श्रुति भी आई है। तदुपरान्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास

---

१. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १२

२. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ३६१

की विशेषताएँ बताकर यह निष्कर्ष दिया गया है कि क्रमिक आश्रम प्रवेश ही वेदमूलक है। वसु ब्रह्मचारी ५०-५५ वर्ष तक, रुद्र ३६ वर्ष तक तथा आदित्य ४८ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य रखकर गृहस्थ में ६५, ७० तक वानप्रस्थ और फिर संन्यास में जायेंगे। राज्य द्वारा आश्रम व्यवस्था का परिपालन कराया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक मनुष्य की प्रधान मूलभूत आवश्यकताएँ पाँच हैं—भोजन, वस्त्र, घर, औषधि और शिक्षा। इन्हें पाँच आलम्बन पदार्थ कहते हैं। अतः किसी भी राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को इन मूलभूत पाँच प्रधान चीजों की प्राप्ति कराए। यदि किसी राज्य के प्रत्येक प्रजाजन को ये पाँच मौलिक वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती तो उस राज्य ने कुछ बातों में कितनी ही उन्नति क्यों न कर ली हो, और उसके कुछ लोग कितने ही सुखी क्यों न हो, तो भी वह आदर्श राज्य नहीं हो सकता। वह एक अपूर्ण राष्ट्र है।[1] वर्णाश्रम मर्यादा के ३ तत्व हैं—(१) कौशल या योग्यता, (२) शक्ति प्रतिमान अर्थात् पद तथा अधिकार का संतुलित उपयोग तथा (३) यथोचित दक्षिणा या पारिश्रमिक। इन तीनों का ध्यान रखने से ही लोग समाज सेवा के अपने निर्धारित कार्यों को मनोयोगपूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे तथा राष्ट्रीय समृद्धि में योगदान कर सकेंगे। वैदिक वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार समाज में तीन वृत्तियों का रहना नितान्त आवश्यक है। एक तो यह कि प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति हर समय कर्म के लिए उद्यत रहेगा। दूसरे जन-कल्याण के लिए सर्वस्व दान करते रहने के व्रत का पालन करेगा तथा तीसरे धन को महत्त्व न देकर कार्य और त्याग भावना को प्रश्रय देगा। स्वाभाविक रूप से वैयक्तिक सम्पत्ति और उत्तराधिकार में मनुष्य का ममत्व केन्द्रीय परिधि का कार्य करता है। वह स्वयं अर्जन के कारण सम्पत्ति का स्वामी है। पैतृक परम्परा से सम्पत्ति का अधिकार सन्तान को मिलता है—

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः। ऋक् १/७३/१

वेद कहता है कि जहाँ प्रजाजनों को नित्य श्रम करना होगा।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋक् ४/३३/११

वहाँ राष्ट्र में कोई भूखा तथा दरिद्र न हो, इसका ध्यान सम्राट् को भी रखना होगा—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः। ऋक् १०/११७/१

विश्वाद्युम्ना वृष्ण्या मानुषाणामस्मभ्यं दा हरितो मादयध्यै।

ऋक् ६/१९/६

वेद व्यक्ति को जहाँ वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार देते हैं वहाँ उसका दुरुपयोग होने पर राष्ट्र कल्याण कार्यों में दान न देने पर सम्पत्ति को छीनने

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ४३९

का अधिकार भी राज्य को देते हैं—

अहं दस्युभ्यः परिनृम्णमा ददे । ऋक् १०/४८/२

सम्राट् अदित्सन्तं दापयति प्रजानन् । यजुर्वेद ६/२४

इसका तात्पर्य है कि राज्य द्वारा अयज्वा धनपतियों की सम्पत्ति छीन लिए जाने के इस राज्य नियम की विद्यमानताका परिणाम यह होगा कि सभी वैश्य और धनपति अपनी सम्पत्ति को अधिक से अधिक परिमाण में राष्ट्र के भले के लिए लगाने में प्रयत्नशील रहेंगे । जब कभी कोई धनपति वैश्य अनुचित स्वार्थ-परायणता का प्रदर्शन करेगा तो इस राजनियम के आधार पर उसकी सम्पत्ति छीन ली जाया करेगी ।[1]

इसप्रकार वैदिक वर्णव्यस्था में वर्ण की ही भाँति सम्पत्ति का अधिकार भी जन्म पर नहीं, योग्यता पर आश्रित है । वर्णाश्रम व्यवस्था में केवल किसी का पुत्र होने मात्र से ही कोई किसी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता । उसे उसका अधिकारी होने की योग्यता भी प्रमाणित करनी होगी । वर्ण-व्यवस्था में सम्पत्ति विशेष अवस्था में छीनी भी जा सकती है और उस पर राज्य की ओर से कई प्रकार से प्रतिबन्ध भी लगाये जा सकते हैं ।[2]

वर्णाश्रम व्यवस्था में सम्पत्ति के विनिमय की बात भी लेखक ने उठाई है जो व्यक्ति अकेला खाता है वह भोजन नहीं, पाप खाता है—

केवलाघो भक्ति केवलादी—ऋक् १०/११७/६

इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से वे बुराइयाँ समाप्त हो जायेंगी जो पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पन्न हो जाती हैं । अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह (यम) तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर विश्वास (नियम) का पालन करने से मनुष्य का चरित्र ऊँचा उठता है । वर्तमान युग में ऋषि दयानन्द तथा महात्मा गाँधी ने इन पर विशेष बल दिया । वैदिक व्यवस्था में चारों वर्ण राष्ट्र के न्यासरक्षक या ट्रस्टी हैं, वे अपनी रुचि से वर्णों का चुनाव करके, उनके कर्त्तव्य कर्मों को जीवनभर पालन करके राष्ट्र के लिए अर्जित करेंगे । उनका, ज्ञान, बल, धन, कला, कौशल तथा सेवा कार्य राष्ट्र के भले के लिए खर्च होंगे, उनका निजी कुछ न होगा । पूंजीवादी तथा साम्यवादी विचारधारा के लोग देखें, वैदिक व्यवस्था सदुपयोगवाद पर आधारित है । सम्पत्ति का अर्जन जहाँ वैयक्तिक आधार पर है वहाँ उसका स्वामित्व सदुपयोग-वाद पर आधारित है । यही एक विभाजक रेखा है जो वर्णाश्रम पद्धति को पूंजीवादी पद्धति से पृथक् करती है ।[3]

---

१. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त—भाग २—पृष्ठ ४६८

२. वही—पृष्ठ ४७५

३. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १२६

वर्णाश्रम पद्धति क्योंकि प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति की समर्थक है और साम्यवाद शासन में प्रजाओं की स्वतन्त्र समिति का महत्त्व नहीं मानता, अतः वह पूंजीवाद के समान ही जड़ साम्यवाद से भी स्वयं को भिन्न मानकर चलती है। अतः लेखक की मान्यता है कि राष्ट्रों की प्रचलित समाज व्यवस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था के तत्त्वों का जितना समावेश होता जायेगा वे राष्ट्रों की जनता का उतना ही अधिक सुख कल्याण बढ़ाने वाली बनती जायेंगी।[1]

इस प्रकार लेखक ने संविधान, समाज-कल्याण तथा प्रतिरक्षा को केन्द्र बनाकर ऐसे समग्र राजतीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया है जो एक ओर वैदिक-काल के इतिहास को समझने में सहायक होता है तो दूसरी ओर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन से मेल ही नहीं खाता अपितु दिशाबोध भी कराता है। विश्व की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में वेदों में बिखरी हुई सामग्री का यह आकलन इस तथ्य को सबलता के साथ प्रस्तुत करता है कि वेदों में निर्दिष्ट राजनीतिक चिन्तन प्रौढ़ तथा मानवमात्र के लिए उपयोगी तथा हितकारी है, किसी भी जन, किसी भी राज्य तथा किसी भी व्यवस्था की आदर्श संरचना के लिए कसौटी है। 'प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र' के प्रणेता इस ग्रन्थ से भरपूर लाभ उठाकर महाभारतोत्तर समाज का मध्यकाल तक क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने की दिशा में यदि अग्रसर होंगे तो यह पुस्तक उनके लिए ज्योति स्तम्भ का कार्य करेगी। प्राचीन युग में राजशास्त्र धर्मशास्त्र के ही उपयोगी अंग के रूप में विकसित होता रहा, अतः पाश्चात्य पद्धति का राजशास्त्र स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं हो सका। मध्यकाल में राजधर्मशास्त्र के लेखकों ने मनु, वृहस्पति, पराशर, विशालाक्ष, शुक्र, भरद्वाज, भीष्म, कौटिल्य तथा कामन्दक का उल्लेख करते हुए धर्मशास्त्र के अंग के रूप में ही राजधर्म पर विचार किया। विद्वानों का मत है कि राजशास्त्र विषय पर निबन्ध साहित्य का निर्माण ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से हुआ है। कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र के दादा गोविन्द चन्द्र के महा-सन्धि विग्रहिक श्री लक्ष्मीधरभट्ट का कृत्यकल्पतरु इस प्रकार की अद्यतन उप-लब्ध पहली रचना है। इस कृति का एक प्रधान काण्ड राजधर्म काण्ड है। इसके २१ अध्यायों में उन्होंने राजा, अभिषेक, राजगुण, अमात्य, दुर्ग, कोश, दण्ड, मित्र, राष्ट्रगठन तथा राज्यकल्याण हेतु सम्पन्न होने वाले कृत्यों का उल्लेख किया है। लक्ष्मीधर संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे पर खेद है कि इन्होंने एक भी वेदमन्त्र उद्धृत नहीं किया। धर्मसूत्र, महाभारत, रामायण तथा गौतम, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, विष्णु, नारद और मनु के सन्दर्भों से ही राज्य व्यवस्था

१. समाज का कायाकल्प—पृष्ठ १५३

पर प्रकाश डाला। यहाँ स्थिति देवणभट्टकृत स्मृति चन्द्रिका (१३ वीं शती) आदि ग्रन्थों की भी है। इन ग्रन्थों की एक बड़ी सीमा यह भी है कि इनमें अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का आश्रय नहीं लिया गया। हाँ चण्डेश्वर ने १४वीं शती में मिथिला में 'राजनीतिरत्नाकर' की रचनाकर राजधर्म को धर्मशास्त्र की गोदी से निकाल कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके मतानुसार राजनीतिशास्त्र स्वयं में स्वतन्त्र तथा पूर्ण विषय है पर इस निबन्ध के लिए उन्होंने भी धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत तथा नीति ग्रन्थों से ही सामग्री का चयन किया है, वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का वह भी उपयोग नहीं कर सके। इनके परवर्ती मित्रमिश्र ने वीर मित्रोदय में फिर धर्मशास्त्र और राजशास्त्र को एक कर दिया। हाँ, १७ वीं शती में नीलकंठ ने अवश्य राजनीति के शुद्ध स्वरूप पर बल दिया तथा राजधर्म को आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड के कृत्यों से पृथक् कर 'नीतिमयूख' के रूप में राजनीतिशास्त्र की रचना की। इस सारी सामग्री के आधार पर महाभारत, मनुस्मृति अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का सहारा लेकर लिखे गए मध्यकालीन राजधर्मशास्त्र को हम शुद्ध आधुनिक ढंग का राजीतिशास्त्र नहीं कह सकते। मनु आदि स्मृतिकारों की विवेचना करते हुए आधुनिक विचारक डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर जैसे लोग कहते तो हैं कि मनु यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि किसी भी व्यक्ति का जो कुछ भी धर्म मनु के द्वारा वर्णित है, वह सब वेद में कहा गया है, वेदों में अनेक स्थलों में यह उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार देवों ने कियाहै उसी प्रकार हम कर रहे हैं। यहाँ देवताओं से अभिप्राय प्राकृतिक प्राण देवताओं से है।[1] किन्तु व्यावहारिक स्तर पर मनु में भी वेद मन्त्रों के उल्लेखकितने हैं ?

प्रसन्नता की बात है कि शताब्दियों के इतिहास में पहली बार आचार्य प्रियव्रत जी ने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' ग्रन्थ लिखकर इस बड़े अभाव की पूर्त्ति की है। इनसे पूर्व वैदिक परम्परा के लोगों में श्री मधुसूदन झा ने 'देवासुरख्याति' में वर्ण चतुष्टय पर वैज्ञानिक दृष्टि से लिखा था पर समाज के सावयव रूप की जैसी विवेचना आचार्य जी ने 'समाज का कायाकल्प' तथा विवेच्य ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में की है, उनसे पूर्व किसी विद्वान् ने नहीं की। डा० भगवानदासकृत 'साइंस आफ सोसल आर्गेनाइजेशन' में अधिक बल इसी बात पर दिया गया है कि प्लेटो को मनु की व्यवस्था का ज्ञान था। अतः पाश्चात्य राजशास्त्र के प्रवर्त्तक भारतीय विचारों से प्रभावित रहे हैं। स्मृतियों द्वारा समर्थित वर्णव्यवस्था के प्लेटो बहुत निकट है। डा० जायसवाल और डा० अल्तेकर भी स्मृति ग्रन्थों के नवीन व्याख्यान करने में निपुण हैं। यू० एन० घोषाल के ग्रन्थ 'हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज' में भी मनु आदि

---

१. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन—पृष्ठ ३७४
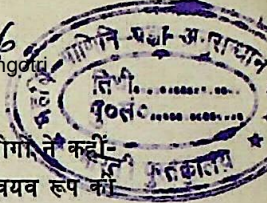
स्मृतिकारों की सामग्री का ही उपयोग किया गया है। हाँ इन लोगों ने कहीं-कहीं कुछ वेदमन्त्रों का उपयोग किया है, वैदिक राजतन्त्र के सावयव रूप की प्रतिष्ठा में मुख्य रूप से। किन्तु जे० जे० अनजारिया ने 'पोलिटिकल ओबलिगेशन्स इन हिन्दू स्टेट' में इनके विपरीत विचार व्यक्त किए हैं। उनका कथन है कि वैदिक युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य के अधिकार में किसी प्रकार का समन्वय नहीं दिखाई देता। श्री पी० वी० काने ने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा कि यह यत्न पूरे मध्यकाल तक इसलिए नहीं हुआ क्योंकि १९वीं० शताब्दी तक पाश्चात्य देशों में भी प्रजातन्त्र का अभाव था। यह एक पलायनवादी उत्तर है। ऐसी स्थिति में वैदिक युग में प्रजातन्त्र की परिकल्पना करना सहज कार्य नहीं था। आचार्य जी ने इन सभी समस्याओं पर अपने ग्रन्थ में विचार किया है तथा वेद मन्त्रों से परिपुष्ट भारतीय राजनीतिशास्त्र की स्वतन्त्र रूप में रचना की है। राष्ट्र, प्रशासन, समाज व्यवस्था, आर्थिक समस्या, प्रशासकीय संगठन, अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध, युद्ध, शांति, युद्धनीति, न्यायव्यवस्था तथा सम्पत्ति विनिमय, दाय, पुत्रपरिवर्त्तन तथा सम्पत्ति अधिग्रहण जैसे विषयों पर भी वेद मन्त्रों का साक्ष्य देकर यह सिद्ध कर दिया है कि वेद द्वारा प्रदत्त राजधर्म सांगोपांग, निर्दोष, हितकर तथा सर्वसुखकारी है। आचार्य प्रियव्रत भारतीय राजनीतिशास्त्र प्रणेताओं में 'वैदिक राजनीतिशास्त्र' के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। उन्होंने वेद मन्त्रों के अनुसार उन राजनीतिक तत्त्वों की खोज की है जिन्हें पाश्चात्य राजशास्त्र की मौलिक देन समझा जाता है। इस उत्तम ग्रन्थ के लिए आचार्य जी सम्मान के पात्र हैं। आचार्य जी वेदों के उद्‌भट विद्वान् हैं। उनका सारा जीवन वेदों के स्वाध्याय तथा अध्ययन-मनन में व्यतीत हुआ है। अतः उनके निष्कर्षों पर संदेह नहीं किया जा सकता। वह चाहे गुरुकुल के स्नातक रहे हों, या आचार्य तथा वेदविभागाध्यक्ष अथवा कुलपति, उन्होंने वैदिक ग्रन्थों के स्वाध्याय का अखण्डव्रत अखण्डव्रत का निष्ठा और तपस्या के साथ पालन किया है! इस अद्‌भुत मनीषा के धनी का यह अवदान वैदिक वाङ्मय के अनुसन्धान की दिशा में चिरस्मरणीय रहेगा। वेद मन्त्रों के तिल-तिल परिचय से जिस प्रामाणिक सामग्री का विवेचन विश्लेषण आचार्य जी ने इस ग्रन्थ में किया है वह उतनी ही ठोस और आधिकारिक है जितने ऐतिहासिक अभिलेख और साक्ष्य होते हैं। आशा है वैदिक साहित्य का नवीन दृष्टि से अध्ययन-अनुसन्धान करने वाले इस ग्रन्थ से भरपूर लाभ उठायेंगे। पुराविद्याओं तथा मानविकी के अनुसन्धाताओं का पुस्तकालय तथा संग्रहालय इस रचना के बिना अपूर्ण रहेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।